...देश्य

...का संरक्षण तथा प्रसार।

...का विवेचन।

...का अनुसंधान।

...र और कला का पर्यालोचन।

...।

१—प्रति वर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२—पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३—पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४—लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया है, उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५—पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाशित न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७०
संवत् २०२२
अंक २

संपादकमंडल

वार्षिक मूल्य १०.००
इस अंक का २.५०

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

१. अपभ्रंश भाषा के द्वितीय भेद : समस्या और समाधान

—श्री जगदीशप्रसाद कौशिक १

२. दयाराम सतसई—श्री महावीर सिंह चौहान १४

३. राउलवेल का कवि : रचनास्थान और वस्तुविषय—श्री हरीश ३६

४. ब्रह्मवैवर्त की प्रतीकित राधा—श्री गोपालजी 'स्वर्णकिरण' ... ५६

पौराणिकी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के पत्रसंग्रह से ... ७९

विमर्श

भक्तनामावली में वर्णित चरनदासजी का चरित्र—श्री वेदप्रकाश गर्ग ८७

क्या जनमेजय पारीक्षित कुरु का पुत्र था ?—श्री वेदप्रकाश गर्ग १०६

चयन १०८

निर्देश ११०

समीक्षा

दूषणोल्लास—डा० राममूर्ति त्रिपाठी १११

अपभ्रंश भाषा का अध्ययन—डा० शिवप्रसादसिंह ... ११५

कबीर—डा० नागेंद्रनाथ उपाध्याय १२१

हिंदी के स्वीकृत प्रबंध—१९१०-१९६२—श्री विष्णुकांत शास्त्री १२३

द्विवेदीयुग की हिंदी गद्यशैलियों का अध्ययन—डा० रामनरेश वर्मा १२५

कोहबर की शर्त—श्री विश्वनाथ त्रिपाठी १२६

वे दिन ,, ,, ... १२७

एक पंखड़ी की तेजधार ,, ,, ... १२७

एक कटी हुई जिंदगी ,, ,, ... १२८

धीरे बहो दोन रे—श्री प्रवासी १२८

लोककथाओं के कुछ रूढ़ तंतु—श्री श्रीप्रसाद १३०

उपन्यासकार प्रेमचंद—श्री श्रीप्रसाद १३१

लालबहादुर शास्त्री : महाप्रयाण, प्रतिनिधि, संकलन, विवेक के रंग, अंधा चाँद, विस्मृति के पंख, बालरामायण, दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ, प्राथमिकी, प्रेत तथा रात की बाहों में—कुँवरजी अग्रवाल १३२-३५

●

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७०] श्रावण, संवत् २०२२ [अंक २

अपभ्रंश भाषा के क्षेत्रीय भेद : समस्या और समाधान

[जगदीशप्रसाद कौशिक]

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिये अपभ्रंश भाषा का अध्ययन परमावश्यक है। किंतु अपभ्रंश का अध्ययन जिस रूप में (कुछ क्षेत्रों में) किया जाना चाहिए था किया न जा सका। विद्वान् लोग अपभ्रंश के सूक्ष्म विश्लेषण के स्थान पर उसके भेदोपभेदों के चक्र में पड़ गए। मजेदार बात यह है कि वे किसी सीमा तक सही होते हुए भी, अपनी बात को उस रूप में नहीं रख सके जिस रूप में रखा जाना चाहिए था। परिणामस्वरूप एक अच्छा खासा विवाद उपस्थित हो गया। उदाहरण के लिये विद्वानों ने यह स्वीकार किया कि अपभ्रंश अनेक रूपों में प्रचलित थी अथवा यों कहिए कि एक समय ऐसा था जब अपभ्रंश की अनेक उपभाषाएँ तथा बोलियाँ प्रचलित थीं। यहाँ तक तो ठीक है। पर विवाद उस समय उपस्थित हुआ जब विद्वानों ने प्राप्त साहित्यिक अपभ्रंश के ग्रंथों की भाषा को रचयिताओं की शैली अथवा उनके निवासस्थान के आधार पर ही बिना किसी भाषावैज्ञानिक अंतर के अनेक भेदों में विभाजित करने का यत्न किया और इतना ही नहीं उनके अंतर-सूचक नियमों की भी स्थापना कर दी जो पूर्णतः निराधार है। अच्छा यह होता कि विद्वान् लोग भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं के आधार पर अपभ्रंश की उन बोलियों का स्वरूप जानने का प्रयत्न करते, विपरीत इसके कि वे साहित्यिक अपभ्रंश में भिन्न भिन्न क्षेत्रों की भाषा का दर्शन कर रहे हैं जो उनके लिये संभव नहीं है।

'सनत्कुमारचरिउ' की भूमिका में डा० याकोबी ने अपभ्रंश (परिनिष्ठित साहित्यिक) को पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी तथा उत्तरी, इन चार भागों में विभाजित

किया है, जिसके उत्तरी भेद का विरोध डा० तगारे ने सशक्त शब्दों में कर अपभ्रंश के तीन भेद निश्चित किए हैं।[1] कुछ विद्वान् अपभ्रंश की बोलियों को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं, जिनमें डा० तगारे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2] ज्यूल ब्लाक और उसके अनुयायियों की धारणा तो बिलकुल ही भिन्न है, वे अपभ्रंश को जनभाषा मानने को ही उद्यत नहीं हैं।

उपर्युक्त संकेत देने का तात्पर्य केवल यह है कि विद्वानों द्वारा लिखित उपलब्ध साहित्य के आधार पर निश्चित किए गए मतों का और जनपदों में उस समय बोली जानेवाली बोलियों के आधार पर निश्चित किए गए मतों का ऐसा अंतर्मिश्रण हुआ है कि दोनों ही मतों की सत्यता संदिग्ध हो गई है। वास्तविकता यह है कि अपभ्रंश का जो साहित्य अब तक उपलब्ध हो सका है उसके आधार पर बिना किसी हिचकिचाहट के यह कहा जा सकता है कि इसकी भाषा शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रंश अथवा आधुनिक शब्दावली में पश्चिमी अपभ्रंश है, जो उस समय के साहित्यकारों एवं शिष्टजनों की भाषा थी तथा तत्समय प्रचलित अनेक बोलियों में से इसने, प्रतिभाशाली व्यक्तियों के सहयोग से परिनिष्ठित भाषा का स्वरूप धारण कर लिया था। इस प्रकार इसमें विपुल साहित्य की सर्जना हुई और यही कारण है कि शौरसेनी अपभ्रंश का स्वरूप तो सुरक्षित रह सका और इसकी अन्य बोलियाँ संबंधित नई भाषाओं को जन्म देकर स्वयं कालकवलित हो गईं और साथ ही आगे आनेवाले भाषाशास्त्रियों के लिये इस समस्या की उत्पादिका सिद्ध हुई कि अमुक आधुनिक भाषा का जन्म कहाँ से, कैसे तथा कौन सी अपभ्रंश बोली से हुआ। संभवतः इसी विचार को दृष्टिगत रखते हुए ज्यूल ब्लाख ने लिखा है'—

"आवर नालेज आव् इट्स (इंडियन) लैंग्वेजेज, ऐट लीस्ट इन देअर मोस्ट ऐशियंट स्टेजेज, इज वेस्ट ओन्ली, आर नीअरली सो, आन लिटरेरी लैंग्वेजेज आव् हिच वी नो नीदर द लोकल बेसिस, नार द डिग्री आव् कनेक्शन विद द वर्नाक्यूलर्स, दे डू नाट गिव एक्सप्रेशन टु द थाट ऐंड फीलिंग्स आव् द पीपुल, ऐट द मोस्ट, दे गिव ऐन आईडिअल पिक्चर आव् द कल्चर आव् ए

१. हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, पृ० १३-१५।
२. वही, पृ० १६।
३. जूल्स ब्लाक फर लॉंग लेक्चर्स फार १९२९, सम् प्राब्लम्स आफ इंडो आर्यन फाइलोलाजी ११३० कोटेड फ्राम 'हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, डा० तगारे, पृ० १५।

स्माल कम्यूनिटी, दे मे डिफर इन कैरेक्टर, सम हाईली रेलिबल ऐंड एरिस्टोक्रेटिक, सम पापुलर, बट रेलिजस टू, द मेजारिटी आर मेनली एडाप्टेड फार प्योरली लिटरेरी यूसेजेस, द लिंग्विस्ट हैज टु बी केअरफुल इन गिविंग देअर एविडेंस इट्स प्रापर वैल्यू, बिफोर ट्राइंग टु कॉंस्ट्रक्ट द डिटेल्स आव् द हिस्टरी आव् इंडो आर्यन।"

अपभ्रंश भाषा का आधुनिकतम एवं अधिक स्वाभाविक वर्गीकरण डा० तगारे का माना जाता है, अतः उसपर किंचित् दृष्टिपात कर लेना प्रासंगिक ही होगा। आपने उसे तीन वर्गों में विभाजित किया है। डा० नामवर सिंह ने इनमें से दक्षिणी अपभ्रंश का विरोध बड़े ही सशक्त शब्दों में किया है। यथा—

"उपर्युक्त विशेषताओं की छानबीन करने से पता चलता है कि ये स्थानगत उतनी नहीं हैं जितनी शैलीगत। डा० तगारे ने पुष्पदंत और कनकामर की भाषा में जिन्हें दक्षिण अपभ्रंश की अपनी विशेषता एँ कहा है, वे वस्तुतः बहुत कुछ प्राकृत प्रभाव हैं। विविध वैकल्पिक रूपों में से प्राचीन और नवीन रूपों का अलगाव करके किसी निर्णय पर पहुँचना अधिक लाभदायक होता, लेकिन डा० तगारे ने यहाँ इस विवेक का परिचय नहीं दिया। पुष्पदंत की भाषा को मराठी की जननी प्रमाणित करने के आवेश में डा० तगारे की दृष्टि से यह तथ्य ओझल हो गया कि पश्चिमी अपभ्रंश नाम से अभिहित 'भविसयत्त कहा' और दक्षिणी अपभ्रंश नाम से अभिहित 'महापुराण' की भाषा में कोई मौलिक अंतर नहीं है। दोनों ही की रचना परिनिष्ठित अपभ्रंश में हुई है, थोड़ा बहुत जो अंतर है वह भी केवल शैली - संबंधी है और रचयिता - भेद से इतना सा भेद आ जाना स्वाभाविक है।

निष्कर्ष यह निकला कि दक्षिणी अपभ्रंश नामक एक अलग भाषा की कल्पना निराधार और अवैज्ञानिक है।"[४]

इस स्थान पर यह बात ध्यान में रखने की है कि डा० नामवर सिंह का निर्णय पुष्ट विरोधी प्रमाणों के अभाव से ग्रस्त है। डा० तगारे ने दक्षिणी अपभ्रंश के कुछ लक्षण बताए हैं जिनका वे परिनिष्ठित अपभ्रंश में अभाव मानते हैं। किंतु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वे सभी लक्षण जो उन्होंने दक्षिणी अपभ्रंश के लिये निर्धारित किए हैं परिनिष्ठित अपभ्रंश में बहुतायत से पाये जाते हैं तथा परिनिष्ठित या पश्चिमी अपभ्रंश के लक्षण उनके द्वारा स्वीकृत

४. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ५८।

दक्षिणी अपभ्रंश के ग्रंथों में पाए जाते हैं। डा० तगारे ने दक्षिणी अपभ्रंश के निम्नलिखित लक्षण निश्चित किए हैं—

१. दक्षिणी अपभ्रंश की ध्वनिसंबंधी विशेषता यह है कि संस्कृत 'ष' का विशेषतः 'छ' होता है, जब कि अन्य अपभ्रंशों में 'क्ख' या 'ख' होता है।

२. अकारांत पुंलिंग शब्द का तृतीया एकवचन में अधिकांशतः 'एण' प्रत्ययवाला रूप मिलता है, जब कि परिनिष्ठित रूप एकारांत होता है।

३. उत्तम पुरुष एकवचन में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया 'मि' परक होती है जब कि परिनिष्ठित रूप 'उँ' परक होता है।

४. अन्यपुरुष बहुवचन में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया 'न्ति' परक होती है जब कि परिनिष्ठित रूप 'हि' परक होता है।

५. सामान्य भविष्यत् काल के क्रियापद अधिकांशतः 'स' परक होते हैं जब कि परिनिष्ठित रूप 'ह' परक होते हैं।

६. पूर्वकालिक क्रियापद के लिये 'इ' प्रत्यय का प्रयोग नहीं के बराबर अथवा बहुत कम होता है जब कि यह प्रत्यय परिनिष्ठित में सर्वाधिक प्रयुक्त होता है।

जहाँ तक प्रथम विशेषता का संबंध है परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी 'ष' का 'छ' आदेश उपलब्ध होता है--

१. छक्खंड (पट्खंड) वसुह गुह सायिसालु (धनपाल, भविसयत्त कहा, पृ० ३)

२. असुलहँ एच्छण (एषण) जाहँ भलि ते णवि दूरु गणन्ति (सि० हे० श०, सू० ३५३-१)[५]

द्वितीय विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'एण'-वाले प्रयोग—

१. प्रिय **विरहेण** व सुसइ कामिणी। (स्वयंभू रामा० २६।५ का० धा०, पृ० ३०)

५. छव्वरिसाइं (स्वयं, हरि० पु० ६२।३), छठइ (रामा० स्वयंभू २१।३), छुड (कण्हपा० च० ६), छुड (रामसिंह दो० पा० ११६)।

२. वणि तणु सह रहसेण समागय। (धनपाल भविस० १६.१७ का० धा०, पृ० २६४)[6]

दक्षिणी अपभ्रंश में 'एँ' वाले प्रयोग—(पुष्पदंत और कनककामर के ग्रंथों में)—

१. बलवंतें सह जुज्झइ। (पुष्पदंत णा० च०, पृ० ७४–७५, का० पृ० २१२)।

२. किय चमर सुघाएँ सलिल सहाएँ गुणभरिया। (करकंडु चरिउ, कनकामर, पृ० ६७)[7]

तृतीय विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण, परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'मि' परक प्रयोग —

१. अणु वि भणमि पुत्त परमत्थें। (धनपाल, भविस०, पृ० २०, का० धा०, पृ० २६८)।

२. हउं किं वि न जाणमि मुक्खुमणे। (स्वयंभू रामा०, २३।१, का० पृ० २४)।[8]

दक्षिणी अपभ्रंश मे 'उँ' परक प्रयोग (पुष्पदंत और कनककामर के ग्रंथों में)।

१. पर लड्डिय तुम्हहिं जीवमि एवहिं कि मरउं। (कनका० क० च० पृ० ६७, का० पृ० ३३६)

६. वसेण, छिन्नेण, वासेण, पटेण, (स्वयंभू रा० ७१, ११, ६५।५,२३।१, २०।१) केण, जेण, छंदेण (सरहपा० दो० १४, ७८, ९२) उजेण (योगिन्दु प० प० ९९) जथिरेण महल्लेण, जलेण (रामसिंह पा० दो० १९, ९९, १६३) विणट्टेण धम्मेण (धनपा० भविस० २०–२३)

७. हत्थें, कहएँ, मुग्रुद्धएँ, विज्जएँ सिद्धएँ, सुद्धिएँ, बुद्धिएँ, दिट्ठिएँ, लहिएँ (पुष्प, आदि पु० ४०७, ज० च० ९।३) गीयएँ, राएँ, करकंडें णायणुल्लयें (कनक का० करकंड च०; पृ० ४, ६४, ६५, २१, २४)।

८. कहमि, (सरहपा० दो० ९३) परिहरमि, करमि, जाणमि स्वयंभू रा० १।२, २३।१) जाणमि (भुसुकपा० च० ४९) पूछमि, मारमि (कंहपा० च० १०) करमि (रामसिंह पा० दो० १४४)

२. मा मरउँ बालु, मइं गिलउँ कालु। (पुष्पदंत उ० रा० ६४ का०, पृ० २२२)[९]।

चतुर्थ विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'न्ति' परक प्रयोग-- १. णं शच्चंति मोर खल दुज्जण। (स्वयंभू रामा० ३८।३ का० पृ० ३८)

२. जहिं पथिय तन्नु छायहिं भमन्ति। (धन० भविस० पृ० २ का० घा० पृ० २६२)[१०]

पंचम विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'सइ' परक प्रयोग -१. पइ विणु को कुवेर भंजेसइ। (स्वयंभू रा० ७६।७)।

२. इंधन होसइ (रामसिंह पा० दो० २५३ का०, पृ० २४८)[११]

दक्षिणी अपभ्रंश में 'हि' परक प्रयोग (पुष्पदंत और कनककामर के ग्रंथों में)—

१. णं कीलहिं अवरंडण पराइं। (पुष्पद० ज० च० पृ० ४० का० पृ० १८६)।

२. पुक्करहिं उध्धा कर करेवि। (कनक० क० च० पृ० ५१ का० पृ०३३६)।[१२]

छठी विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; दक्षिणी अपभ्रंश में 'इ' अंतवाले पूर्वकालिक क्रिया के प्रयोग उपलब्ध होते हैं--

१. करि सर वहिरिय दिच्चक्कवाल। (पुष्पदंत णा० च० पृ० ४ का० पृ० १७६)।

२. तं पेक्खि जणु छिएणु (कनकमर, क० च० ३. १८. ३)।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच जाते हैं कि दक्षिणी भाषा की जो विशेषताएँ डा० तगारे ने निर्दिष्ट की हैं वे सर्वथा आधारहीन हैं। ये विशेषताएँ अपभ्रंश के प्रायः सभी ग्रंथों में पर्याप्त मात्रा में खोजी

९. सरउं, सोसिउं, आकरिसिउँ, (पु० उत्तरा० ६४-८३) सरउं (क० का० च०, पृ० ६७)।

१०. परिचलन्ति, पियन्ति, (स्वयंभू रा० ३।४) होन्ति, भणन्ति (योगिन्दु २६३, ३२३ प० प०) गुप्पंति, भमंति (रा० पा० दो० २१७) गमंति, करंति (धनपा० भविस० २।३; १०।११)।

११. वारेसइ, होसइ, पालेसइ, होसइ (स्वयंभू रा० ७६।३)

१२. करहिं, संचलहिं (क० का० क० च० ३५, २६, ४, ५.)

जा सकती हैं, चाहे उनकी रचना उत्तर में हुई हो अथवा पूर्व, पश्चिम या दक्षिण में।

डा० तगारे के द्वारा प्रस्तुत अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेदों की आलोचना करते हुए डा० नामवर सिंह ने लिखा है, "वस्तुतः भारतीय आर्यभाषा की पूर्ववर्ती परंपरा के अनुसार अपभ्रंश के भी केवल दो क्षेत्रीय भेद थे—पश्चिमी और पूर्वी, जिनमें पश्चिमी परिनिष्ठित थी तथा पूर्वी अपभ्रंश उसकी विभाषा मात्र थी। अपभ्रंश की इससे अधिक सत्ता मानने की इस समय कोई गुंजाइश नहीं है।"[13]

उपर्युक्त उद्धरण से प्रकट होता है कि डा० नामवर सिंह अपभ्रंश के पूर्वी भेद को बनाए रखना चाहते हैं पर डगमगाए कदमों के साथ, क्योंकि वे सरह, कराहपा आदि के दोहाकोशों को तो परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचना मानते हैं किंतु चर्यापदों की भाषा में उन्हें पूर्वी अपभ्रंश की विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं। किंतु यदि चर्यापदों की भाषा का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि डा० साहब ने जिन लक्षणों को इनके पूर्वीपन की विशिष्टताएँ कहा है वे समस्त लक्षण पर्याप्त मात्रा में सुदूर पश्चिम के एवं दक्षिण के साहित्यकारों की रचनाओं में भी उपलब्ध होते हैं। अतः अपभ्रंश के पूर्वी भेद को बनाए रखने में इनका भी क्षेत्रीय मोह ही दृष्टिगत होता है। इससे अधिक कुछ नहीं। डा० नामवर सिंह ने डा० तगारे के द्वारा प्रस्थापित निम्न लक्षणों को पूर्वी अपभ्रंश की विशेषताएँ माना है —

१. पूर्वी अपभ्रंश में कुछ संयुक्त ध्वनियों का परिवर्तन इस प्रकार होता है—

   क्ष > क्ख, ख

   त्व > त्त

   द्व > दु

   व > ब

   ष, स > श

२. संस्कृत 'श' सुरक्षित रहता है।

३. आद्य महाप्राणत्व नहीं होता।

४. निर्विभक्तिक संज्ञापद बहुत मिलते हैं।

५. लिंग अतंत्रता बहुत अधिक है।

१३. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ५६।

६. क्रियार्थक संज्ञा और पूर्वकालिक क्रिया का मिश्रण नहीं हुआ। पूर्व-कालिक क्रिया प्रत्यय - अइ - का प्रयोग क्रियार्थक संज्ञा के लिये भी हुआ है।

परिनिष्ठित अपभ्रंश की क्रियार्थक संज्ञा के लिये प्रयुक्त 'अण' प्रत्यय का यहाँ पर अभाव है।

उपर्युक्त विशेषताओं के प्रतिरोध में अपने मत की पुष्टि के लिये यहाँ क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत हैं—

प्रथम विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'क्ष' के **स्थान पर 'क्ख, ख:—**

१. णउ मरहुँणा लक्खणु (लक्षण) छंदु सब्बु। (स्वयंभू रा० १।३ का० पृ० २४)।

२. कहिं दक्खा (द्राक्षा) मंडवि दुहु मुयन्ति। (पुष्पदंत णा० च० पृ० ६)।[४]

परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'त्व' के स्थान पर 'त्त' —

१. अवरेहिं मित्तइहिं कइत्तणउ (कवित्व)। (स्वयंभू० हरिव० का० १ पृ० २४)।

२. ते वयणं गेपमिमइत्तणउ गे(पवित्त) । (पुष्पदंत आदि पु०,पृ० २६१)।[१५]

परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'द्व' के स्थान पर 'दु' का प्रयोग—

१. चउ दुवार (द्वार) चउ गोउर। (स्वयंभू रामाय० ४६।२ का० पृ० २४)

२. दु (द्व) ति - पंच - सत्त मां मइँ घराइँ। (पुष्पदंत जसहर च० पृ० ४ का० पृ० १९२)।[१६]

१४. रक्खसेण, पेक्खु, (स्वयभू० रा० ६१।२, ७८।२०), जक्खिणी, खीर, (पुष्पदंत आदि पु०, पृ० २४४, णा० च०, पृ० ६), खत्तियउ, मोक्खु (योगिंदु प० प्र० ६८, १८४), अक्खरडे अक्खह, मोक्खु, (रामसिंह पा० दो० ८६, ४२, १४५), कुरुखेत्ति, कामकंखिइं, पिक्खंवि (धनपाल भविस० पृ० ३, २१–२२, ५६-५७), सचिलक्ख (अब्दुर्रहमान सं० रा० २।२१)।

१५. मिच्छत्त (मिथ्यात्व), दयिवायत्तु (पुष्पदंत णाय कु० च० पृ० ४, धनपा० भविस० पृ० १७), इंदत्तणु स्वयंभू रा० ७८), दुएण, दुवारु (पुष्पदंत णा० च० १२, ज० च० २१)

१६. दुपुत्तु (स्वयंभू रा० ७४।१४), दुवारु (धनपाल भविस० ७१)।

परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी 'व' के स्थान पर 'ब' का प्रयोग—

१. गोला बाइ दिट्ठ समुब्बहन्ति (समुद्वहन्ति)। (स्वयंभू रा० ११।३ का० पृ० ३८)।

२. पच्च बासिणिवेस लेबि (लेवि)। (पुष्पदंत आदिपु० २३०-२३१)।[10]

पूर्वी अपभ्रंश में'व' के स्थान पर 'ब' भी पाया जाता है (चर्यापद)—

१. आगम वेअ पुराणें पण्डिअ माण बहन्ति। (कण्हपा का० २ पृ०१४६)।

२. सो कइसे आगम बेएँ बरवाणी। (लुइपा चर्याप० २६)

इसके अतिरिक्त इनके द्वारा प्रस्थापित परिनिष्ठित अपभ्रंश के ध्वनि-परिवर्तन के लक्षण भी तथाकथित पूर्वी अपभ्रंश के ग्रंथों में पाए जाते हैं; यथा 'क्ष' के स्थान पर क्ख, छ—

१. मोरंगिपिच्छ (पक्ष) परिहिण शबरी गीवत गुंजरी। (शबरपा चर्या० २८)

२. राग-दोष-मोहे लाइआ छार (क्षार)। (कण्हपा चर्यापद ११)

पूर्वी अपभ्रंश में 'द्व' के स्थान 'व' (चर्यापदों में)—

१. चान्द सूज वेणि (द्वौ) परवाफल। (गुंडरिपा चर्या० ४)

२. वेणि (द्वौ) रहिअ तसु णिच्चलठाइ। (कण्हपा दो० १३)

प्रथम विशेषता के अंतिम भाग अर्थात् 'ष, स' के स्थान पर 'श' तथा द्वितीय विशेषता संस्कृत 'श' की सुरक्षा तथाकथित पूर्वी अपभ्रंश के ग्रंथों में व्यवस्थित रूप में नहीं पाई जाती। यद्यपि दोहाकोशों और चर्यापदों की भाषा में 'श' ध्वनि का अस्तित्व पाया जाता है, तथापि इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि यह उन ग्रंथों की भाषा की विशेषता है, क्योंकि इस नियम का पालन सर्वत्र नहीं किया गया है। जहाँ कहीं क्षेत्रीय प्रभाव है वहाँ 'ष, स, श' के स्थान पर 'स' पाया जाता है, अन्यथा इन तीनों के स्थान पर 'स' (परनिष्ठित अपभ्रंश परंपरा के अनुसार) कर दिया गया है और कहीं तीनों का ही अस्तित्व पाया जाता है। कुछ ऐसे भी उदाहरण उन ग्रंथों में पाए जाते हैं जहाँ पर 'श, स' के स्थान पर 'ष' भी पाया जाता है। अपने तथ्यों की पुष्टि के लिये नीचे उद्धरण प्रस्तुत है—

१०. तोवि (तदपि = तोवि > तोबि) आमो बासाल (आमोवासक्त) (स्वयंभू रा० १०।३, ३१।३)

'श' के स्थान पर 'स'—

ऊँचा ऊँचा पावत तहिं वसइ सबरी (शबरी) बाली बाली।
मोरंगिपिच्छ परहिण सबरी (शबरी) गिवत गुंजरी माली।
उमत सबरो (शबर) पागल शबरो भाकर गुलीगुहाड़ा।
एकेली सबरी (शबरी ए वण हिंडइ कर्ण कुंडल बज्रधारी।
तिउ धाउ खाट पडिला सबरो (शबरो) महासुखे सेज (शय्या) छाइली।
सबरो शवर, भुजंग णइरामणिदारी पेह्म राति पोहाइली।
सून (शून्य) निशमणि कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाइ।
उमग सबरो (शवर) गरुआ रोषे, एके शर संधाने बन्धइ विन्धइ परमपिवाणे
गिखरर सिहर (शिविर) संधि पइसन्ते सबरो (शबरो) लोडिब वाइसे
(कीदश)। (शबरपा चर्यापद २८ पु० त० नि० १४:-४२)।

उपर्युक्त पद में १४ ऐसे शब्द हैं जिनमें 'श' वर्ण संस्कृत में आता है, जिनमें से कवि ने १२ स्थानों पर 'श' के स्थान 'स' का प्रयोग किया है तथा केवल दो स्थानों पर 'श' की सुरक्षा की गई है। समझना कठिन है कि विद्वान् लेखकों ने उन कौन से पदों को लक्षित किया है जहाँ पर 'स, ष' के स्थान पर 'श' तथा 'श' की सुरक्षा को देखा है। जहाँ कहीं पर 'श' सुरक्षित तथा 'स' के स्थान पर 'श' पाया जाता है वहाँ केवल क्षेत्रीय प्रभाव ही माना जा सकता है, भाषा की विशिष्टता नहीं। इसके अतिरिक्त निम्नांकित उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं— खिराये, पइसइ (कर्णरीपा० च० प० ३१); श्रास, पास (लुईपा० च० प० १), दिस, कइसे (वही २६); बचिस, णसिउ, सुध (भूसुकपा चर्यापद २७); सेस (वही ४६); ससि (वीणापा० च० प० १७); पइसइ महेसर, असुद्ध (डोम्बि पा० च० प० १४); उवेसँ, कइसे, चउदिस, कम्बपा चर्याप० ८); सरद, प्रकासित (जालंधरपा च० प० ७३) ससुरा (कुक्कुरिपा च० प० २) सासु (गुंड-रिपा० च० प० ४); सिरिफल, कसण (कृष्ण) (मदिपा० च० प० १६)।

और दोहाकोशों में तो इस नियम की बिलकुल ही परवाह नहीं की गई है। पूर्वी अपभ्रंश में 'स' के स्थान पर प्रायः 'स' ही पाया जाता है। चर्यापदों में—

सरहपा, सहावे, सोइ (सरहपा० चर्यापा० ३२); सहज, सुंदारी, सुहे, विलसंति, रसे (शवरपाद चर्यापद २८, ३०); पतिभासइ, सअल, (कर्णरीपाद३१); सअ, संवेअण, सरुअ (शांतिपाद च० प० ५०); सुन्न, सच (लूइपाद च० पा० १,२६); विकसउ, सहआनंद, संज्ञा (भुसुकपा० च० प० २७, ४६); सम, रस, विसम, (वीणापाद, च० प० १७); सदभावे, सरवस (डोंबि पा० च० प० १०); समय, सुगउ, संभव (जालंधरपा० च० प० ७६); सोइ, सएँ (शांतिपा० च० प० ५, १६)।

पूर्वी अपभ्रंश में 'ष' के स्थान पर 'स' का प्रयोग—

सेस (शेष) (भूकसुपा० २७)।[१८]

इसके विपरीत चर्यापदों में 'स' तथा 'श' के स्थान पर 'ष' का प्रयोग भी देखने को मिलता है; यथा—

षहजे। (भूसुकपा० चर्यापद २७)

जो षो (सो) चोर सोइ साधी। (तंतिपाद चर्यापद ३३)

भिते निते षियाला (शृगाल) षीहे (सिंह, षम (सम) जुभअ। (वही, ३३)।

'श' के स्थान पर 'ष' -

षियाला, पड़वेषी (प्रतिवेशी), (तंतिपाद च० प० ३३); षषहर (शशधर) (भूसुकपाद चर्यापद २७); षबराली (शबर) (शबरपाद चर्यापद ५०)।

तृतीय लक्षण के परिवेश में मैंने चर्यापदों का अध्ययन किया तो मुझे अत्यंत आश्चर्य हुआ कि विद्वान् लेखक ने इन्हें पढ़ने का कष्ट भी उठाया था अथवा नहीं। कतिपय शब्दों को छोड़कर यहाँ पर शब्द के आद्यमहाप्राणत्व को कहीं भी परिवर्तित नहीं किया गया है। मैं प्रत्येक महाप्राण ध्वनि के, जो प्रायः शब्दों के आदि में प्रयुक्त होती आ रही है, एक एक, दो दो उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ, वैसे ऐसे शब्दों का हजारों की संख्या में वहाँ से चयन किया जा सकता है। उदाहरण प्रस्तुत हैं, क्रमशः[१९]—

खाण्टवि, खरे (सरहपाद च० प० ३८); खाइ (शबरपाद २८); खाले (भुसुकपा० ४६); छाड़ि (सरहपा० ३२); छाइली (शबरपा० २८); छाड़छाड़ (श० ५०); छांदक (लूइपा० १); घमण (लूईपाद १); घंटा (कण्हपा० ११); घोरिअ, घुमइ (कण्हपा० ३६); घर; (तंतिपा ३३) झाण (दारिकपा० ३४); ठान (दारिकपा० ३४); ठावी (कंबलपाद ३०); ढेढण (तंतिपा० ३३); थिर (सरहपा० ३८); थाकिउ (भूसुकपा० २७); थाहे (शा० १५); धर (सरहपा० ३८); धनि (वीणापा० १७); धुणी (शांतिपा० २६); धाए (लुईपा० २६); फिटेली, फुलिआ (शबरपाद ५०); फाल (गुंडरिपाद ४); भिति (लूईपाद १); भणइ, भाइला (सरहपा० ३८); भेला, भुजग (शबरपाद २८, ५०); भात (तांतिपा० ३३); हाथेरे (सरहपा० ३२); हेली (शबरपाद ५०)।

१८. समस्त उदाहरण राहुल सांकृत्यायन द्वारा संपादित हिंदी का० धा० और और पु० नि० से उद्धृत है।

१९. ये सभी उदाहरण केवल चर्यापदों से लिए गए हैं। दोहा कोशों का कोई उदाहरण नहीं दिया गया है।

जहाँ तक पूर्वी अपभ्रंश की चतुर्थ विशेषता का संबंध है, वह विशेष नहीं सामान्य है, क्योंकि हेमचंद्र ने इसे परिनिष्ठित (इनके अनुसार पश्चिमी) अपभ्रंश की विशेषता लक्षित की है; यथा—लिङ्गमतन्त्रम् (८-४४५)—अपभ्रंशे लिङ्गम् अतन्त्रम् व्यभिचारि प्रायः भवति।[२०] कम अधिक प्रयोगों की उपलब्धि के आधार पर किसी लक्षण को किसी भाषा की विशेषता कहना कदापि समीचीन नहीं कहा जा सकता।

यही स्थिति पंचम विशेषता की भी है, क्योंकि संस्कृत की पुत्रियों और विशेषकर अपभ्रंश भाषा की यह विशेषता रही है कि वह अधिक से अधिक वियोगात्मक होती गई और यही कारण है कि उसमें सबसे अधिक मात्रा में परसर्गों का प्रयोग किया गया है। एक बात यहाँ पर स्पष्ट कर देना अयुक्तिसंगत न होगा कि उक्त विद्वानों से हमारा मतभेद इस बात पर नहीं है कि पूर्वी अपभ्रंश का अस्तित्व था अथवा नहीं, बल्कि मतभेद इस बात पर है कि क्या सिद्धों की रचनाओं—चर्यापदों एवं दोहाकोषों की भाषा पूर्वी अपभ्रंश है? हमारा उत्तर स्पष्ट है कि नहीं। और इनका यह लक्षण तो हमारे मत को और भी अधिक पुष्ट करता है, क्योंकि पश्चिमी अपभ्रंश से निसृत आधुनिक भारतीय भाषाएँ पूर्वी अपभ्रंश से उद्भूत असमी, बंगाली, उड़िया आदि भाषाओं से अधिक मात्रा में निर्विभक्तिक हैं। अतः सिद्ध है कि पूर्वी अपभ्रंश बोली अपेक्षाकृत कम निर्विभक्तिक रही होगी। यदि चर्यापदों में निर्विभक्तिक प्रयोग अधिक हैं तो वे निश्चय ही परिनिष्ठित अपभ्रंश के ही बोधक हैं।

जहाँ तक छठे लक्षण का संबंध है, लेखक ने लक्षण के उत्तरार्ध में स्वयं स्वीकार किया है कि एक प्रत्यय का अंतर्मिश्रण हुआ है। अतः किसी रचना में एक प्रत्यय के अंतर्मिश्रण पर और किसी रचना में दो प्रत्ययों के अंतर्मिश्रण पर दोनों की भिन्न भिन्न भाषा की क्लिष्ट कल्पना को किसी भी प्रकार श्रेयस्कर एवं तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। फिर इस अंतर्मिश्रण के प्रारंभ की ओर हेमचंद्र ने संकेत भी किया है; यथा—व्यत्ययश्च (८, ४४७)—प्राकृतादि भाषा लक्षणानां व्यत्ययं च भवति।[२१] अतः किसी लेखक ने इसे स्वच्छंदता से ग्रहण किया और कुछ प्राचीनता के पक्षपाती रहे। अतः इस आधार पर भी भाषाभिन्नता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

२०. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण।

२१. वही।

सप्तम विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; दोहाकोषों और चर्यापदों में 'अण' प्रत्यय मोती की भाँति बिखरे पड़े हैं, आवश्यकता है चयनकर्ताओं की। इस विषय के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर देने से इस लक्षण की भी निराधारता सिद्ध हो जाती है।

पूर्वी अपभ्रंश में 'अण' प्रत्यय—

१. मोहोर बिगोआ कहण न जाइ। (गुंडरिपा० च० प० २० का० धा० पृ०१४४)
२. घोलिअ अवण गवण विहूण। (कण्हपा० च० प० ३६ का० धा०, पृ० १५२)
जलण (सरहपा० दो० को० ४)। जलण, गमण (कण्हपा० दो० को० १७)
कहण कुक्कुरिपा० चर्यापद० २० : अवण, गवण (भुसुकपा० चर्यापद २१)।

उपर्युक्त आकलन एवं विचार विमर्श के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच जाते हैं कि लेखकों के लेखनस्थान (निवासस्थान) के आधार पर उनकी कृतियों की भाषाओं को उन क्षेत्रों की भाषाओं के नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। ये लेखक चाहे पूर्व के निवासी रहे हों, चाहे इनकी जन्मभूमि पश्चिमी प्रदेश रहा हो, चाहे उन्होंने उत्तरी क्षेत्र में बैठकर काव्यसर्जन किया हो और चाहे दक्षिणी प्रदेश में बैठकर अपनी वाणी को साकार किया हो, इन सबके ग्रंथों की भाषा एक ही है और वह परिनिष्ठित अपभ्रंश है, जिसे ये विद्वान् पश्चिमी अपभ्रंश के नाम से अभिहित करते हैं। पूर्वी अपभ्रंश का विवेचन करते समय डा० घोषाल ने ठीक ही कहा है --

'इस प्रकार पूर्वी अपभ्रंश का अर्थ पूर्वी ग्रंथों की साहित्यिक भाषा है तो निश्चय ही पूर्वी अपभ्रंश नाम की कोई चीज नहीं है। लेकिन यदि पूर्वी अपभ्रंश का तात्पर्य मागधी अपभ्रंश से है, जो आधुनिक पूर्वी बोलियों का मूल स्रोत है, तो निश्चय ही उसका अस्तित्व था और वह एक जीवित सत्य की भाँति वास्तविक थी।'[22]

ये ही पंक्तियाँ दक्षिणी अपभ्रंश के लिये भी केवल पूर्वी अपभ्रंश के स्थान पर प्रयोग कर उद्धृत की जा सकती हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि उस समय की साहित्यिक भाषा केवल एक थी, अनेक नहीं।

*

२२. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २४।

दयाराम सतसई

[महावीर सिंह चौहान]

गुजरात के कृष्णभक्त कवियों की परंपरा में दयाराम अंतिम तेजस्वी कवि थे। गुजराती की ही भाँति इन्होंने हिंदी (ब्रजभाषा) में भी अनेक ग्रंथों के साथ लगभग १२ हजार पदों की रचना की है।[१] गुजराती साहित्य में दयाराम का स्थान निश्चित करते हुए, श्री नर्मद ने कवि को प्रेमानंद तथा सामल के बाद ही रखा है।[२] पर श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई को नर्मद का यह निर्णय मान्य नहीं है। उन्होंने नरसिंह मेहता, प्रेमानंद तथा सामल के बराबर का स्थान ही दयाराम को भी दिया।[३] कुछ भी हो, दयाराम गुजराती साहित्य के एक महत्वपूर्ण कवि हैं। दयाराम की हिंदी कविता विशेषकर सतसई में नर्मद ने कवि की गुजराती कविता की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ता के दर्शन किए।[४] प्राचीन काव्यमाला तथा बृहद् काव्य दोहन के संपादकद्वय हरगोविंददास काँटावाला तथा इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने दयाराम सतसई की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।[५]

एक गुजराती कवि की इतनी प्रचुर तथा उच्च हिंदी काव्यरचना पर आश्चर्य वे ही करेंगे जिनको यह ज्ञात नहीं कि भालण से लेकर दलपतराम तक सतत रूप से गुजराती कवियों ने भी हिंदी में यथारुचि काव्यरचना की है।[६]

१. बृहद् काव्यदोहन, भाग ५, पृ० ४७।

२. जूनुं नर्मगद्य, पृ० ४८७।

३. बृहद् काव्य दोहन, भाग ५, पृ० ४३।

४. जूनुं नर्मगद्य, पृ० ४८८।

५. बृ० का० दो०, भाग ५, पृ० ४६।

६. भालण-मीरानां समय थी दयाराम दलपत सुदी गुजराती कविथाए यथा-रुचि हिंदीमां पण पोतानी कलम चलावी छे × × × अत्यारे राष्ट्रभाषा थवा मथती हिंदी मध्य कालमां ज राष्ट्रभाषा बनी चूकी हती।

(भाषा—मीरा के समय से दलपतराम-दयाराम तक गुजराती कवियों ने भी हिंदी में अपनी कलम चलाई। आज राष्ट्रभाषा बनने वाली हिंदी मध्यकाल में ही राष्ट्रभाषा बन चुकी थी।)

—गुजराती साहित्य (मध्याकालीन) आचार्य अनंतराम रावल, पृ० १२४।

दयाराम ने हिंदी में काव्यरचना द्वारा उस परंपरा का निर्वाह मात्र किया है। डा० भोगीलाल सांडेसरा के शब्दों में कहें तो : 'वधारे प्राचीन काल मां थएलो बहुश्रुत कवि संस्कृत द्वारा जे काम लेत, ते काम पुष्टमार्गीय कवि दयाराम व्रजभाषा पासे लीधूं,'[७] क्योंकि 'व्रजभाषा ए समए आखाए उत्तर अने पश्चिम भारत नी मान्य साहित्य भाषा हती, एनी तुलना ई० सं० १००० नी भारतव्यापी साहित्यिक अपभ्रंश साथे थई शके।'[८] दयाराम ने संस्कृत भाषा में भी कुछ पदों की रचना की है, पर डा० सांडेसरा दयाराम को संस्कृत का पंडित नहीं मानते। इस संबंध में अधिक न कहकर इतना तो अनुमान किया ही जा सकता है कि यदि कवि संस्कृत भाषा का ज्ञाता होता तो भी उसमें काव्यरचना नहीं करता, क्योंकि संस्कृत जनजीवन से दूर की भाषा थी। स्वयं संस्कृत भाषा में आज जो कुछ साहित्य है उसे भी अपनी वर्तमान भाषाओं के माध्यम से ही सीखा-जाना जाता है। इसी लिये संस्कृत के वे पंडित जो केवल देववाणी के ज्ञान पर इतराते हैं, दयाराम की दृष्टि में उपहास के पात्र हैं—

> श्लोक पुरानी संस्कृत बाँचत सब इतराय।
> फुल्य सफल गिरवानि जब श्रोता ले समुझाय ॥७०६॥

कवि देववाणी होने के कारण ही संस्कृत को बहुत ऊँची नहीं मान लेता। इस दृष्टि से भी व्रजभाषा संस्कृत से महान् है, क्योंकि यह नारायण के कारणरूप श्रीकृष्ण की भाषा है—

> वेद बड़े गिरिवान तें नारायण की बानि।
> व्रजभाषा भल ताहि तें व्रजपति भखि मुख जानि ॥७०८॥

सतसई वस्तुतः सात सौ मुक्तकों के संग्रह का ही नाम है। दयाराम ने भी ग्रंथ के अंत में 'किए सात सौ दोहरा' लिखकर पदों की इसी अभीष्ट संख्या की ओर संकेत किया है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि कवि की हस्तलिखित प्रति में दोहों की संख्या कितनी है पर नर्मद द्वारा संपादित सतसई में यह संख्या

७. अधिक प्राचीनकाल का बहुश्रुत कवि संस्कृत द्वारा जो काम लेता वह काम पुष्टिमार्गीय कवि दयाराम ने व्रजभाषा से लिया। दयाराम, पृ० ६।

८. व्रजभाषा इस समय संपूर्ण उत्तर तथा पश्चिम भारत की मान्य साहित्यिक भाषा थी। इसकी तुलना सन् १००० की भारतव्यापी साहित्यिक अपभ्रंश से ही की जा सकती है। —वही, पृ० ६।

सात सौ इकतीस है। अन्य ग्रंथों के अंत में कवि पदों की जितनी संख्या अंकित करता है, प्रायः उतने ही पद मिलते हैं, पर सतसई में कवि द्वारा दी गई संख्या से इकतीस दोहे अधिक हैं। इसका कारण यही है कि 'लहिया' अथवा संपादक ने कवि के अन्य ग्रंथों से भी कुछ दोहे ले लिए हैं। लगभग दस दोहे तो 'कौतुक रत्नावलि' तथा 'संप्रदायसार' से संगृहीत कर दिए गए हैं। यदि प्रयास किया जाय तो अन्य सभी दोहों का मूल प्राप्त किया जा सकता है।

हिंदी की भाँति गुजराती साहित्य में भी सतसईपरंपरा है। पर अपने इस ग्रंथ में वस्तुयोजना एवं वर्णनशैली की दृष्टि से कवि हिंदीपरंपरा के ही अधिक समीप है। आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के जिस युग को रीतिकाल की संज्ञा दी है, कवि का जीवनकाल भी इसी युग के अंतर्गत आता है। हिंदी के रीतिकालीन कवि अधिकांश रूप में राजाश्रयी होते थे। इनकी कविता लोकरुचि का प्रतिनिधित्व नहीं करती। विलासप्रिय राजाओं की प्रसन्नता का इनको विशेष ध्यान रखना पड़ता था। पर दयाराम की कविता किसी आश्रयदाता को रिझाने के लिये नहीं लिखी गई थी। यही कारण है कि कवि बड़े आत्मविश्वास के साथ कहता है—

> दया सतसैया ग्रंथ यह विरचित पर उपकार ॥७२७॥ तथा
> पुरुषोत्तम गोपीश श्री कृष्ण मनोहर रूप।
> तद प्रीत्यर्थ सुग्रंथ यह, नाँहि रिझवन को भूप ॥७२-॥

दयाराम भक्त कवि हैं। उनका अधिकांश साहित्य पुष्टिमार्ग की सैद्धांतिक विवेचना से भरपूर है। कवि ने सब कुछ को भगवान् के साथ संबंध स्थापित करके ही देखा है। सतसई की दार्शनिक विचारधारा का तो हम दर्शन करेंगे ही पर वस्तुवृंद-प्रदीपिका जैसे ग्रंथ में भी विभिन्न वस्तुओं की परिगणना कवि ने ईश्वर के साथ संबंध स्थापित करके ही कराई है।

विषयवस्तु की दृष्टि से सतसई को कवि ने तेरह प्रकरणों में विभाजित किया है—१-मंगलाचरण, २-भगवद्-स्तुति-विज्ञप्ति, ३-प्रेम और नायिका वर्णन, ४-हीरावेधक प्रकरण, ५-संगवर्णन, ६-भक्तिप्रकरण, ७-वादप्रकरण, ८-नाम माहात्म्य, ९-आश्रय १०-विवेकशिक्षा, ११-प्रस्तावप्रकरण, १२-काठिन्यार्थ (कूट पद) तथा १३-चित्रकाव्यप्रकरण।

प्रेमलक्षणा भक्ति में विश्वास करनेवाले दयाराम ने शृंगार के माध्यम से ही अपने उपास्य को रिझाने का प्रयास किया है। कृष्ण तथा गोपिकाओं के प्रेम को कवि ने अत्यधिक मर्मस्पर्शी ढंग से उपस्थित किया है। यह प्रेम उसके आराध्य की लीला का एक महत्वपूर्ण अंग है। पर यह शृंगार उसके आराध्य का एक

खिलवाड़ है, जिसमें क्षण मात्र में विरह की अगम वेदना उपस्थित हो जाती है और एक ही क्षण में मिलन के असीम आनंद से हृदय पुलकित हो उठता है। कवि इस मिलन और विरह को किसी और ही जाति का बताता है—

गोपी गोपीनाथ की विरह और ही जास।
जिमि लुहार की सारिसी छिन सीरी छिन तास ॥२४६॥

प्रिय के विरह में तुष्टि नहीं, एक आनंद है। उस रूपसिंधु का पान करके भी नेत्रों की प्यास नहीं बुझती, पर उस पिपासित दशा में भी एक सुख है—

बानिक नटवर लाल की लखत तोष दिन रैन।
पान करैं प्यासे मरैं, बनचर लौं मम नैन ॥६८॥

पर इस प्यास को कवि ने सिंधु से अलग करके नहीं देखा। वियोग की मार्मिक परिस्थितियों को सानुरोध हटा दिया गया है। मिलन के हास-परिहास, व्यंग्य-विनोद का इतने विस्तार के साथ वर्णन करने में, हिंदी की रीतिकालीन कविता बहुत हदतक कवि को प्रभावित करती है। पर रीतिकालीन कवि के संयोगश्रृंगार में वासना की तरलता का गाढ़ा रंग है। आनंद की अनिर्वचनीय अनुभूति प्रदान करनेवाला प्रेम, ऐंद्रिक विलास मात्र की मांसलता में फँसकर रह जाता है। विचारवान् विवेचकों ने ऐसे काव्यचित्रों को अश्लीलता की संज्ञा प्रदान की है। हमें यहाँ उन विवेचकों की स्थापनाओं के औचित्य पर विचार करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि हमारा तो यहाँ कहकर काम चल जायगा कि दयाराम की श्रृंगारिक अनुभूति का धरातल आध्यात्मिक है। इस बात को हम प्रारंभ में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि कवि गोपी गोपीनाथ के विरह को किसी और ही जाति का बताता है। इसी लिये इस मिलन का अंत ऐंद्रिक तुष्टि में नहीं, अतींद्रिय आनंद में है। इस मिलन में गलबाहीं डालने पर भी मिलन की प्रतीति नहीं होती—

गल बाहीं दुहु तहुँ रहे कित प्यारी पिउ कीत।
मिलत परे न प्रतीति यह प्रीति रीत विपरीत ॥९६॥

और यदि अनंग कभी अपना रंग लाता भी है तो केवल वियोग में ही—

लखे न लाल सहेट गे, ललना लाखि अनूप।
भो तनु रंग अनंग डर, जातरूप को रूप ॥१६६॥

पर यह जातरूपी रंग भी अधिक देर तक ठहरता नहीं, और ठहरे भी कैसे, प्रिया जिधर भी दृष्टि पसारती है, उधर ही प्रिय के दर्शन हो जाते हैं—

मुकर मुकर सब वस्तु भई, नयन अयन किय लाल।
दृग पसारहुँ जित जित अली, तित तित लखों गुपाल ॥

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि ये गुपाल और लाल किसी सामान्य नायक अथवा नायिका के प्रतीक रूप में नहीं आए हैं, क्योंकि लौकिक रति का वर्णन करने के लिये कवि बिलकुल तैयार नहीं—

रति आरत आगार रतिपति पितु बिन जहँ भई ॥१६६

सखी भाव से लिखी गई दयाराम की कविताओं पर अधिकांश गुजराती आलोचकों ने अश्लीलता का आरोप किया है। के० एम० मुंशी तो कवि को भक्त मानने के लिये भी तैयार नहीं। उनके विचार से तो 'दयाराम एक मस्त प्रणयी है, दीन भक्त नहीं। और यदि दयाराम मध्ययुगीन आध्यात्मिक वातावरण में जन्म न लेते तो संभवतः उनकी कविता में यह गोपी और गोपाल नहीं आते, क्योंकि जिस जमाने में भक्त कहाए बिना हृदय की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती थी उस जमाने में दयाराम को कवि बनना पड़ा।'[३]

यदि गुजराती साहित्य के इतिहास पर आलोचनात्मक दृष्टि रखी जाय तो इस कथन की निरर्थकता में किसी प्रकार का भी अविश्वास नहीं किया जा सकता। शामल, जिसे नर्मद ने दयाराम से भी अच्छा कवि स्वीकार किया है, किसी प्रकार की आध्यात्मिक विचारधारा का कायल नहीं है, स्वयं प्रेमानंद भी भक्त नहीं माने जा सकते। हिंदी के सहस्रों मध्ययुगीन कवि भक्त न होकर कवि मात्र थे। रीतिकालीन कवि (जिनमें कई भक्त भी थे) तो लौकिक शृंगार के वर्णन के लिये बदनाम नहीं हैं। फिर अकेले दयाराम के मार्ग में ऐसी कौनसी बाधा आ गई कि उन्हें 'स्वरति' की अभिव्यक्ति के लिये कृष्ण और गोपिकाओं के नाम का आधार लेना पड़ा।

वास्तविकता तो यह है कि पुष्टिमार्गीय कवि दार्शनिक सत्य तथा आध्यात्मिक तत्व का चिंतन कराके मानव की सहज स्वाभाविक वासनाओं के निरोध तथा आत्मदमन के अमनोवैज्ञानिक पाठ नहीं पढ़ाता। वह तो अपनी रागात्मक अभिव्यक्ति से रसिकों के हृदय में एक संवेदनशीलता पैदा करने का प्रयास करता है। अंतर के स्पंदनों को एक नवीन चेतना प्रदान करता है, और वही चेतना जीवन के भावविस्तार में सहायक बनती है। इसी लिये इन भक्तों का साहित्यिक क्षेत्र में स्थान है, क्योंकि इन भक्त कवियों की काव्यधारा प्रेम के विरह-मिलन के उन पुलिनों का स्पर्श करती है जो सामान्य लौकिक जीवन की मधुर लहरियों के

३. मध्यकालनो साहित्य प्रवाह, के० एम० मुंशी, पृ० ३८१ ।

द्वारा गहन आध्यात्मिक तत्वों का स्पर्श कर लेते हैं।

के० एम० मुंशी को दयाराम से यह भी शिकायत है, 'दयाराम हैज नथिंग मेकिंग हेल्पलेस गोपी इन हिम''[10] क्योंकि दयाराम की गोपियाँ कृष्ण के सामने बड़ी ढीठ सी दिखाई देती हैं। कृष्ण भी अपनी ब्रह्म जैसी 'डिगनिटी' की रक्षा करने में असमर्थ लगते हैं। एक गुजराती पद में एक गोपिका कहती है—

'तुम सरखा गोवालियारे लोल, ते तो मारा बाप ना गुलाम' और कृष्ण उत्तर देते हैं—

'तुम सरखी गोवालणी रे लोले, ते तो मारा पगनी पेजार''[11] अर्थात् तुम्हारे जैसे ग्वाले तो मेरे पिता के यहाँ गुलामी करते हैं। तुम्हारी जैसी ग्वालिनों को तो मैं अपने पैर की जूती समझता हूँ। जो व्यक्ति प्रेम लक्षणा भक्ति की इस सामान्य सी बात को भी नहीं जानता कि प्रेम के क्षेत्र में ऊँच नीच को स्थान नहीं, दुराव-छिपाव को अवकाश नहीं, भेद - भाव की आवश्यकता नहीं, उसके लिये दयाराम की शब्दावली में कह दिया जायगा।

रति सुख दुख जाने न को बिन इक अनुभौकारि।
बिदित न पीर प्रसूति की बंभा नागरि नारि ॥११२॥

पहले ही कहा जा चुका है कि सतसई में वियोग की दशा का मार्मिक वर्णन नहीं किया जा सका। मान, जिसको कि आचार्यों ने एक प्रकार का वियोग ही माना है—किसी गोपिका के हृदय में अधिक देर तक नहीं ठहरता, क्योंकि सारी इंद्रियाँ (रसिक) मन के अधीन हैं, मन रसिकेश के साथ मिल जाता है, बेचारी मानवती का तो कुछ बस चल ही नहीं पाता—

मन अधीन अलि रसिक सब, सो रसिकेस मिल्यो जु।
गर्व धरी इक हौं रही, मेरो कछु न चल्यो जु ॥२१६॥

किंतु सतसैया के अतिरिक्त अन्य स्थलों—विशेषकर स्फुट पदों में कवि ने अपने अंतर के विरह को आकार प्रदान किया है। वर्णन में सरलता, सीधापन, और स्वाभाविकता है जिससे वह सहृदय पाठक के हृदय को स्पर्श कर लेता है।

दयाराम अपने समकालीन गुजराती कवियों में निश्चित रूप से सर्वश्रेष्ठ हैं। पर हिंदी साहित्य में भी उनको किसी प्रकार पीछे न छोड़ दिया जाय, इसलिये कवि ने तत्कालीन हिंदी-काव्य-धारा के साथ कदम मिलाकर चलने का भरसक

१०. गुजरात एंड इट्स लिटरेचर, के० एम० मुंशी० पृ० २७० ।
११. दयाराम—रससुधा, पृ० ४ ।

प्रयास किया। उनका रीतिग्रंथ 'पिंगलसार' तथा 'सतसई' में नायिकावर्णन का प्रसंग इसी प्रवृत्ति का प्रतीक है। उनके गुजराती काव्य सर्जन में न तो कहीं 'पिंगलसार' जैसे सैद्धांतिक ग्रंथों के नाम आते हैं और न नायिकावर्णन करने का प्रसंग ही उपस्थित होता है। सतसई में कुल छब्बीस प्रकार की नायिकाओं का वर्णन है, जिनमें 'खंडिताओं' का चित्रण सुंदर है, अन्यथा नायिकावर्णन रीतिकालीन मर्यादा के निर्वाह के लिये ही लिखा गया है।

कवि के प्रेमप्रकरण की विवेचना करने के बाद भी अन्य प्रकरण शेष रह जाते हैं, जिनका महत्व किसी प्रकार न्यून नहीं। मंगलाचरण तथा भगवत्स्तुति में कवि ने अपने गुरु तथा आराध्य श्रीकृष्ण की श्रद्धानत होकर वंदना की है। हीरावेधक प्रकरण कवि के पांडित्य का प्रतीक है। अधिकांश शब्दों में श्लेष है। अतः इन दोहों का अर्थ समझने के लिये पाठक के पास काव्य मर्मज्ञ की बुद्धि होनी आवश्यक है। उदाहरणार्थ—

मीनकेतु रह कवि पर्यो जीव बुद्धि गह मंद।
मंगलमय तट तरनि जा, बसि न भजे ब्रजचंद।।२६८।।

'रे जीव! तू मंदबुद्धि होकर (मीनकेतु) कामुकता के मार्ग में क्यों पड़ा हुआ है। मंगलमय तरणिजा के तटपर बसकर ब्रजचंद की आराधना क्यों नहीं करता?' यह स्पष्ट अर्थ समझ लेने के बाद कवि पाठक को इस दोहे की शब्दावली से चमत्कृत करना चाहता है क्योंकि वास्तव में यहाँ कवि ने आठों ग्रहों की नामगणना कराई है। यद्यपि 'राहु' को कवि ने रह 'बना' दिया तथा 'बुद्धि' और 'बुध' दोनों एक ही मान लिए गए हैं। प्रथम अर्थ में 'कवि' का आशय ज्ञानी माना जायगा तो दूसरे अर्थ में यह 'गुरु' का अर्थवाची है। कहना न होगा कि इस प्रकार के पदों में अर्थ के लिये बड़ी खींचातानी करनी पड़ती है फिर भी अर्थ समझ लेना असंभव नहीं।

संगवर्णन में सुसंग तथा कुसंग का लाभालाभ बताया गया है। इस प्रकार की कविता में लोकज्ञान अधिक महत्वपूर्ण होता है। अतः इसमें उच्चकोटि के काव्य-तत्व की आशा तो नहीं रखी जा सकती पर विविध दृष्टांत तथा उदाहरण अलंकार दोहों के सौंदर्यवर्धन में सहायक अवश्य बनते हैं। दयाराम जैसे भावुक कवि का मन इस विषय को अधिक दूर तक खींचकर न ले जाय यह स्वाभाविक है, इसी कारण इस प्रकरण के दोहों की संख्या केवल बारह है। भक्ति प्रकरण अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण एवं विस्तृत है। यहाँ कवि के समक्ष केवल दो लक्ष्य हैं, भक्ति के सरल स्वाभाविक मार्ग का प्रतिपादन तथा ज्ञान की परिश्रमसाध्य कठिन साधनाओं पर प्रहार। यद्यपि वह सर्वप्रथम ज्ञानमार्गियों से कह देता है कि हमारा-

तुम्हारा पारस्परिक झगड़ा कुछ भी नहीं, और झगड़ा हो भी नहीं सकता क्योंकि हमारी और तुम्हारी साधना का धरातल समान नहीं है। ज्ञान की इति मुक्ति में होती है पर भक्ति का प्राप्य है स्वयं प्रभु—

ज्ञानि भक्त सों क्यों लरत० बिना किए अनुमान।
कृष्ण आप फल भक्ति के वाहि मुक्ति को दान ॥३११॥

भक्ति में सहजता है, ज्ञान में दुरूहता। ज्ञानियों को कठिनतम यातनाएँ सहन करके भी जो फल नहीं मिला वही शबरी, गणिका आदि भक्तों को सहज ही प्राप्त हो गया। यही बात कवि ने जब दार्शनिक धरातल पर कही तब उसे वाद-प्रकरण के अंतर्गत रख दिया। यहाँ कवि की प्रतिद्वंद्विता में शंकराचार्य के अनुयायी हैं। कवि शंकर के 'केवलाद्वैतवाद' को विभिन्न प्रकार के प्रमाणों तथा तर्कों से खंडित करने का प्रयास करता है। हर कृति में अवसर आ जाने पर वह ज्ञानियों से एक प्रश्न अवश्य पूछ लेता है—'यदि प्रभु साकार नहीं है तो जगत् कैसे बन गया? निराकार कारण का कार्य साकार कैसे हो सकता है? न्यायशास्त्र इस कथन का प्रमाण देता है। यह भी जाने दीजिए तो श्रुतिवाक्य 'एकोऽहं बहुस्याम' का अर्थ क्या हुआ? यह वाक्य कहनेवाला कौन है?

जो न रूप जगधाम क्यों संभव करतव्यता।
एकोहं बहुस्याम श्रुति निषेध करत न बने ॥३३॥

सतसई में तो कवि संयत है अन्यथा अन्य पुस्तकों में कवि, शंकराचार्य के लिये अपशब्दों का प्रयोग करने में भी नहीं रुका। रसिकरंजन में शंकर के लिये कवि मूढ़, जड़ तथा खल आदि विशेषणों का बड़ी झुँझलाहट के साथ प्रयोग करता जाता है—

१ माया तो मलिन और ब्रह्म को न रूप
मूढ़ तूही कह बिंब बिना प्रतिबिंब परेगी?
२ कहत वृथो जड़ जूठ कहो जग
तू ही तेरो मत डारत धोई।
३ जीव को ब्रह्म कहे खल ज्ञानी॥ आदि[12]

कवि ने भक्ति के दस प्रकार माने हैं, जिनमें प्रेमलक्षणा भक्ति सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, किंतु नाम स्मरण के लिये सतसई में एक स्वतंत्र प्रकरण ही

१२, द० का० सु०, २२०–२१।

रखा गया है, क्योंकि भक्त और भगवान् के बीच नाम ही माध्यम है। यह भक्ति का प्रथम सोपान है। यों तो गिरधारी भाव के भूखे हैं फिर भी यदि प्रारंभ में किसी संसारी के हृदय में भगवत्प्रेम का भाव उत्पन्न न हो सके तो भी उसे नाम-स्मरण तो करना ही चाहिए, क्योंकि यदि कोई बेमन भी भोजन खाएगा तो भूख तो शांत होगी ही।

'आश्रयप्रकरण' को पढ़कर निश्चित हो जाता है कि भक्त के लिये भगवान् से बढ़कर और कोई भी आश्रयदाता नहीं है—

प्रभु भू आश्रय मूल छुटि नर न लीन दुख पाय।
पोषक प्रिय सुहृ प्रान ले देत सहाय गलाय ॥३४३॥

'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् समर्थ भगवान् ही है; फिर भी कवि मानव की सहज विवेक बुद्धि की उपेक्षा नहीं करता। 'कौतुकरत्नावलि' में तो कवि मानव के बुद्धि बल पर पूरा जोर देता है। बुद्धि की सीमा से परे के कार्यों को ही भगवान पर छोड़िए—

पुनि पाछे पछितायबो, दया न करि वहि काम।
जहँ लगि अपनो बुद्धि बल पुनि इच्छा भगवान ॥
—मणि०, भाग ६, पृ० २११।

सतसई के विवेक प्रकरण में भी उपर्युक्त मत का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही मन को समझाया गया है कि इस सांसारिक माया मोह के बंधन से दूर हट। इसके लिये भूतकालीन भक्तों के उदाहरण की तो कमी ही नहीं। प्रस्तावना प्रकरण में कवि ने ग्रंथरचना का समय, स्थान तथा उद्देश्य आदि का उल्लेख करके थोड़ा सा अपना परिचय दिया है। चित्रकाव्य में मेरुबंध, कमलबंध तथा कपाटबंध आदि दोहों के चित्र हैं। यहाँ कविकौशल का प्रदर्शन है।

'सतसई' की रचना दोहा छंद में की गई है। कवि ने इस लघु छंद में जिन मार्मिक परिस्थितियों के संदर्भ में नायक तथा नायिकाओं के व्यंग्य विनोद, हास परिहास, विरह-मिलन के रसमय चित्र उपस्थित किए हैं, वे निश्चित रूप से प्रशंसनीय हैं। मुक्तकों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को प्रकट करनेवाले कवि के लिये मार्मिक परिस्थितियों की योजना करना सबसे बड़ी कला है, जिसमें दयाराम को पूर्ण सफलता मिली है। रीतिकालीन कवियों ने कभी कभी शृंगार की झोंक में अन्य रसों की न केवल उपेक्षा की है अपितु अन्य रसों की परिस्थितियों को हटाकर सप्रयास शृंगार रसाभास के नमूने पेश कर दिए हैं। पर दयाराम ने कहीं भी इस प्रकार की शास्त्रविरोधी परिस्थिति नहीं आने दी। उदाहरणार्थ कवि के कुछ दोहे यहाँ प्रस्तुत हैं—

चपला चमक सघन गरज सुनि हरि प्यारी जानि।
लाल लाय लइ हिय कसी बनी संक सुख खानि ॥१७५॥

कितना सरल स्वाभाविक चित्र है। भय, शृंगार आनंद में बदल गया। मनोवैज्ञानिक धरातल पर भय की परिस्थिति में किसी का भी आश्रय सुखद होता है और यदि वह आश्रय प्रिय का ही वक्षस्थल हो तो उस सुख को साहित्यिक शब्दावली में शृंगार रस ही कहा जायगा। आचार्य लोग भय को बनावटी मानकर क्रियाविदग्धा नायिका का दर्शन भी कर सकते हैं। पर अन्य स्थलों पर क्रिया विदग्धा नायिकाएँ अपनी व्यंग्योक्तियों द्वारा जो शृंगार की सांकेतिक व्यंजना उपस्थित करती हैं, वह कवि की उच्च कोटि की काव्यप्रतिभा का ही प्रतीक है—

खरक सँवारो कर भरे गोबर, छुट उर छोर।
ऐहै बड़ को बाल तुम, ढाँकिय नंदकिसोर ॥१७१॥

यहाँ नंदकिशोर के लिये 'बाल' शब्द आजाने मात्र से ही यदि कोई वात्सल्य का तिरस्कार समझ ले तो उसके लिये तो कुछ कहा नहीं जा सकता, अन्यथा नायिका के 'हिए का हारद' समझाने के लिये कवि ने जिस परिस्थिति तथा जिस शब्दावली की योजना की है, वह पूर्णतः पर्याप्त है।

भाषा पर कवि का अधिकार है। यही कारण है कि शृंगारवर्णन के लिये उसने अभिधा के स्थान पर अधिकांश रूप में लक्षणा तथा व्यंजना का ही सहारा लिया है। किसी प्राचीन खंडहर में जो कि गाँव के किनारे ही है—कुछ संत आकर रहने लगे। गाँववालों ने जब यह समाचार सुना तो बड़े खुश हुए किंतु किसी नवयौवना ने इस समाचार को सुनकर एक दीर्घ निश्वास छोड़ा—

तूट्यो सदन सँवारि को संतन कियो निवास।
सुच मान्यो सब सुनि, लियो ललना काहु उसास ॥१०७॥

इस शुभ समाचार पर नायिका के दीर्घ निश्वास का कारण जानने के लिये पाठक को भाषा की व्यंजनाशक्ति से परिचित होना चाहिए।

राधिका कृष्ण से रूठ गई है। कारण खास कुछ भी नहीं। कृष्ण के मुकुट में अपना ही रूप देखकर उसे भ्रम हो जाता है कि यह चित्र कृष्ण की किसी अन्य प्रियतमा का है। दूती राधा को बुलाने आती है—

चलि, कहँ, बोले. कौन, पिय, क्यों. तो बिन कल नाहँ।
धनि हैं, रुचि नहिं, मौल रखि, राधे वै तुव छाहँ ॥२१७॥

दूती आते ही कहती है चलिए, जान बूझकर भी राधिका पूछती है कहाँ? बुला रहे हैं, दूती का वाक्य राधा को यह समझाने में समर्थ है कि किसने बुलाया

है। वह फिर भी अनजान सी बनकर पूछती है—कौन? दूती ने उत्तर दिया—पिय। आखिर क्यों? क्योंकि तुम्हारे अभाव में उनको चैन नहीं। पर हमारी जैसी तो अनेकों हैं उनके लिये, लेकिन उन्हें तो किसी के प्रति रुचि नहीं।

'और वह जिसका चित्र उन्होंने मुकुट में लगा रखा है?' दूती अब नाराजगी का कारण समझ सकी और राधिका के संदेह का निराकरण करती हुई बोली, तो अपना ही प्रतिबिंब देखकर तुम नाराज हो गई हो।

कहना न होगा कि उपर्युक्त दोहे का प्रत्येक शब्द एक वाक्य है। हर वाक्य का अपना भाव है। राधिका की उदासीनता, झुँझलाहट, व्यंग्य, उपालंभ, खीझ क्रमशः इस प्रकार प्रकट हो गए हैं कि उनकी सूचना देने की भी कवि को आवश्यकता नहीं पड़ी। यद्यपि परिस्थिति की योजना के लिये दयाराम प्रसिद्ध कवि भालण के ऋणी हैं पर भालण ने उन सभी भावों को प्रकट करने के लिये लगभग आधा पृष्ठ ही घेर लिया है—

कौस्तुभमा निजरूप देखी रीसावी प्यारी
जाएयुं खोलामां बेठी छे भुजसरखी नारी
दूती ने त्यांगाल देछे तूँ तो धुतारी
मने शाने तेडी आवी? ए तो व्यभिचारी
मध्य नायिका मान करोने बुद्धि कही सारी
कंठ थकी केशव जी मेलो महामणि उतारी
राधाए त्यां नारी न दीठी दीठा कंसारी
भालण प्रभु राघवशुं बाधी प्रीत अतिभारी

काव्य के कलापक्ष पर विचार करने पर सर्वप्रथम कवि की अप्रस्तुत योजना हमारा ध्यान आकर्षित करती है। रीतिकालीन कविता अलंकारों की अनावश्यक योजना से कहीं कहीं बोझिल हो गई है। जहाँ तक कविता कामिनी अलंकारों से स्वाभाविक रूप से अपना सौंदर्यवर्धन कर सकती हो वहाँ तक तो उनका उपयोग उचित है, पर जहाँ अलंकार काव्य के रसतत्व में बाधक बनने लगें वहाँ उनका न होना ही उचित है। दयाराम ने कविता की परिभाषा देते हुए रस को नहीं भुलाया—

बरन थोर अति अर्थसह अमल सरस सद होइ।

यह सरसता ही कवि के काव्य में प्रधान है, फिर भी अलंकारों का उचित मात्रा में उपयोग किया गया है। उपमा, रूपक, श्लेष आदि अलंकार तो सतसई के प्रायः अधिकांश दोहों में हैं।

मन प्रेम में फँस गया है, अब समझाने से भी नहीं समझता। इसी कथन को कवि ने सांगरूपक के आधार पर अत्यधिक प्रभावोत्पादक बना दिया है—

रति चहलें मातंग मन फस्यो न निकसन पाय।
बल करि निकस्यों चहत है, त्यों-त्यों धसतहि जाय ॥१५५

दलदल में फँसा हुआ हाथी, बाहर निकलने का जितना ही प्रयास करता है उतना ही अंदर धँसता जाता है, इसी प्रकार मन भी प्रेम में फँस गया है निकलने के प्रयास में वह और भी अधिक उसमें उलझता जाता है।

'हीरा वेधक प्रकरण' तो 'श्लेष' अलंकार से भरा पड़ा है, उदाहरण के लिये नीचे एक दोहा प्रस्तुत है—

सुखरासी सुधि ना रही लखि के मुखसुख रासि।
रस लेते रस बीखर्यो पनघट भइ उपहास ॥७६॥

सुख की राशि है कुंभ और कुंभ का अर्थ है घट। कृष्ण स्वयं सुख की राशि हैं। गोपिका बेचारी कृष्ण को देखने में इतनी तल्लीन हो जाती है कि उसे अपने सिर पर रखे घड़े की याद ही नहीं रहती। आनंद की दशा में घड़ा गिर जाता है, पानी फैल जाता है, साथ की सहेलियाँ हँस पड़ती हैं। 'सुखराशि' तथा 'रस' शब्दों में कवि ने श्लेष रखा है।

यहाँ अलंकारों के अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं क्योंकि सतसैया में उनकी कमी नहीं। हमें यहाँ पुरानी बात याद करनी है कि दयाराम श्रृंगार के कवि हैं, पर उनके प्रेम में रूप की वस्तुपरक चुभन नहीं, भावगत मधुरिमा है। इसी कारण कवि की भाषा में दुरूहता के स्थान पर प्रेषणीयता ही अधिक है। यों सतसई में परंपरा से चली आनेवाली ऊहात्मक उक्तियाँ भी हैं, कल्पना की ऊँची ऊँची उड़ानें भी हैं, कला और कारीगरी के प्रदर्शन की लालसा भी है, पर ये सब के सब प्रेम की मधुर स्निग्ध धारा में कुछ इस प्रकार सिक्त हो गए हैं कि पाठक को सब कुछ स्वाभाविक ही लगता है।

सतसई की भाषा की शक्ति का दर्शन कर लेने पर भी भाषा के रूप-विधान, शब्दभंडार आदि के संबंध में कुछ कहना शेष रह जाता है। पर इस विषय पर अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसका मूल कारण यह है कि कवि की किसी भी हिंदी रचना का अभी शुद्ध संपादन नहीं हुआ। जो अप्राप्य ग्रंथ हैं उनकी तो बात ही दूसरी है पर सतसैया जैसे ग्रंथ का भी संपादन अभी तक देवनागरी लिपि में नहीं हुआ। सतसई का प्रथम (तथा अंतिम) संपादन नर्मद ने किया है। दयाराम काव्य-संग्रह के साथ सतसई के भी अभी तक पाँच संस्करण हो चुके हैं। पर नर्मद जैसे सावधान व्यक्ति के अभाव

में न केवल प्रथम संस्करण की भूलों को ही दुहराया गया है, अपितु कुछ अन्य त्रुटियों का आगमन भी हो गया है। यह भी संभव है कि कुछ भूलें लिपि में ही हों, कारण यह है कि दयाराम कभी तो स्वयं लिखा करते थे और कभी खुद बोलते जाते थे और उनके शिष्य उसे लिपिबद्ध करते जाते थे। इस प्रकार के लेखकों को गुजराती भाषा में 'लहिया' कहा जाता है। किसी भी लहिया से हिंदी भाषा के छंदविधान तथा काव्यशास्त्र के ज्ञान की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः ऐसी दशा में 'लहिया' से कुछ शब्दों, मात्राओं तथा ह्रस्व-दीर्घ स्वरों संबंधी भूलों का रह जाना स्वाभाविक है। जब तक इन सभी भूलों को सुधार कर सतसई का शुद्ध संपादन नहीं किया जाय, कवि की भाषा के संबंध में लिखना उतना महत्वपूर्ण नहीं होगा। फिर भी संपादन की कुछ भूलों को तो दिखाया ही जा सकता है—

१. प्रीती सो सहराइए अरु अनन्य द्वै अंग।१३६
२. तूट्यो सदन सँवारि।१७६
३ काहुकी बाँही बाँहि।१८६
४. कै कटि छोटी मैं हितू, रुची न नंदकिशोर।१६२

उपर्युक्त पदों में सरहाइए, टूट्यो बाईं, हुती या हती के स्थान पर संकेतित शब्दों का आ जाना वास्तव में संपादकीय भूलों का ही परिणाम है और इस प्रकार की भूलों से संपूर्ण सतसई तथा अन्य हिंदी ग्रंथ भी भरे पड़े हैं।

कवि को भारत की अनेक भाषाओं का ज्ञान था और इस ज्ञान का परिचय कवि ने गुजराती तथा हिंदी के अतिरिक्त मराठी, सिंधी, पंजाबी, उर्दू तथा राजस्थानी आदि भाषाओं में काव्य रचना करके दिया है। हिंदी के प्रसिद्ध ग्रंथ 'रसिक-रंजन' में कवि ने एक छंद दिया है जिसमें उसने अपने भाषा ज्ञान का परिचय देने के लिये बारह पंक्तियों के पदों की रचना बारह भाषाओं में की है—

गिरिधर मुंजो प्राण,	(कच्छी)
तुही साभलडा प्यारा,	(पंजाबी)
मादर पिदर बिरादर,	(फारसी)
दुश्मन खलक बिसारा,	(उर्दू)
माटा मची बिनी पु,	(तेलगु)
सामी इकडा शी,	(तामिल)
जानी जिय की पीर,	(हिंदी)
मनोरथ पूर्ण मारा,	(गुजराती)
हरिन को कोणा चा प्रेम,	(मराठी)

वै त्वमेव स्वामी निरंतर, (संस्कृत)
नंद मेहर को पुतवा दया प्रभु (पूर्वी हिंदी)
बाकी दासी माके कांई डर (मारवाड़ी)
— दयाराम काव्यसुधा, पृष्ठ २२२

यद्यपि इस पद से यह मान लेने की आवश्यकता नहीं कि कवि उपर्युक्त पंक्तियों में आनेवाली संपूर्ण भाषाओं का पंडित था, पर इन सभी भाषाओं का उसे सामान्य ज्ञान अवश्य ही रहा होगा और इस ज्ञानप्राप्ति में उसकी तीर्थ-यात्राएँ, जिनकी अवधि कभी-कभी तेरह वर्ष तक की लंबी हो जाया करती थी, ही सहायक बनीं। विविध भाषाओं के ज्ञान का परिणाम यह हुआ कि हिंदी के पदों में अन्य भाषाओं के शब्दों का कवि ने स्वच्छंदतापूर्वक उपयोग किया है। प्रारंभिक रचनाओं, यथा 'विष्णु स्वामी की परिचरी' आदि में न केवल गुजराती के शब्दों का बाहुल्य है अपितु कभी कभी गुजराती के वाक्यखंड ज्यों के त्यों हिंदी की क्रिया 'है' लगा देने से ही हिंदी भाषा के अंतर्गत मान लिये गए हैं। सतसई तो कवि की प्रौढ़ रचना है किंतु फिर भी 'मैं' उत्तम पुरुष सर्वनाम के साथ 'अपना', 'आप' आदि निजवाचक शब्दों का प्रयोग न करके उत्तम पुरुष के ही संबंध विकारी रूपों 'मेरा', 'मेरी' से काम चलाया गया है जो गुजराती भाषा 'का' ढंग है।

अन्य कवियों की भाँति ही दयाराम ने भी तुक, लय तथा मात्राओं के लिये शब्द तोड़े मरोड़े हैं। प्रायः ह्रस्व स्वरों को दीर्घ कर दिया गया है—

१. फनि निवास, दिपि, सिंधु में सुधा नहीं विधु मूख ।।३११।।
२. नोनित ते हूँ सहा मृदू, सदा संत को ऊर ।१२८
३. करि कट्टा किय अमल उर ।३२६ ।

प्रथम पद में 'पियूष' शब्द का जोड़ मिलाकर तुक के 'आग्रह से 'मुख' का 'मूख' कर दिया गया है। मात्राओं के आग्रह पर 'मृदु' तथा 'उर' क्रमशः 'मृदू' तथा 'ऊर' बना दिए गए। यहाँ तक तो गनीमत है, पर जब कष्ट शब्द 'कट्टा' बन जाता है तब कुछ कटुता सी आ जाती है। यद्यपि अन्य स्थानों पर तोटवर्ग को हटाने के लिये भो कवि सामान्य नियमों से आगे बढ़ जाता है। 'रोड़ा' के लिये 'रोरा' (४२६), 'बूड्यो' के स्थान पर 'बूर्यो', बड़ी के लिये 'बरी' (४३) प्रायः ब्रजभाषा में नहीं मिलते हैं। कवि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति का माध्यम गुजराती भाषा ही थी। जहाँ भी दयाराम ने सीधे-सीधे गुजराती के पदों का हिंदी में सीधा सीधा सा अनुवाद कर दिया है वहाँ मौलिकता का अभाव हो गया है, क्योंकि गुजराती के वाक्यखंड—'वाकूँ जोवूँ', 'अलियारे नयन',

'आँखलडी नो खूँणो' जब हिंदी में 'नैनन की नोक', 'चश्म तलवार', 'नैन कटारी' बनकर आ जाते हैं तब उनका सौंदर्य ही समाप्त नहीं हो जाता बल्कि एक हलका बाजारूपन भी आ जाता है। यद्यपि सतसई में इस प्रकार की भाषा का उपयोग बहुत कम हुआ है तथापि अधिकांश पदों में नेत्रों को कटार बना कर ही नायिकाओं के कलेजे को काटा गया है।

कवि की भाषा में साहित्यिक शिष्टता ही नहीं, लोक जीवन की झाँकी भी है। इसी कारण विभिन्न मुहावरों तथा कहावतों से भाषा की अभिव्यंजना को और अधिक प्रेषणीय बनाने का प्रयास किया गया है—

१. विदित न पीर प्रसूति की बंझा नागरि नारि ।११२

२. देखी सुनी न कहुँ बजी एक हाथ सों तारि ।१२३

३. दमड़े म्हेंगा ऊँट ।१५२

इस प्रकार की भाषा पाठक के हृदय पर सीधा प्रभाव डालती है। एक गुजराती कवि द्वारा ब्रजभाषा का इतना सुंदर प्रयोग देखकर आश्चर्य होता है।

अधिक न लिखकर हम इतना ही कहेंगे कि यद्यपि 'दयाराम सतसई' हिंदी जनता में विभिन्न परिस्थितियों के कारण अपना उचित स्थान नहीं पा सकी है तथापि यह निश्चित है कि जब हिंदी का पाठक — पंडित वर्ग अपनी भूल सुधारने को तैयार होगा तब वह डा० भोगीलाल सांडेसरा के विचारों से सहमत होकर यही कहेगा कि 'व्रजभाषा ना साहित्यना मुख्य प्रणेताओं माँ दयाराम ने जरूर मूकी शकाय।'[13]

१३. ब्रजभाषा साहित्य के मुख्य प्रणेताओं में दयाराम को अवश्य रखा जा सकता है।—दयाराम, भोगीलाल साँडेसरा, पृ० १।

राउलवेल का कवि : रचनास्थान और वस्तुविषय

[हरीश]

'राउलवेल या राजकुल विलास' (1) में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि राउलवेल का रचनाकार कवि रोड पश्चिमी राजस्थान का कवि था। डा० माताप्रसाद गुप्त उसे इसके प्रतिकूल दक्षिण कोसल का मानते हैं। हमारा उनसे मतभेद है। कवि रोड के रचनास्थान के विषय में विचार करते हुए वे लिखते हैं—'लेख में दक्षिण तथा पूर्व भारत के अनेक प्रदेश के निवासियों को हीन अथवा वर्णित नायिकाओं और उनके वेशों के लिये झंखते हुए कहा गया है' × × × ।

इसकी पुष्टि के लिये उन्होंने रचना की पंक्तियों—६, १०, १५, १८, ३० तथा ३६ उद्धृत की हैं, जिनमें कई प्रदेशों के नाम आए हैं और इसके बाद वे निष्कर्ष में लिखते हैं—

'इसलिए रचनास्थान ऐसा होना चाहिए, जो गोल्लों (गोदावरी प्रदेश के निवासियों), कानोडों (कर्णाट - ओड्र प्रदेश के निवासियों), टेल्लों (तिलंगाना प्रदेश के निवासियों), ओड्रों (उड़ीसा निवासियों) और गोड़ों (गौड़ देशवासियों) के क्षेत्रों से मिलता हुआ हो। इस प्रकार का प्रांत दक्षिण कोसल है जहाँ पर कोशली का ही एक रूप अब तक बोला जाता है इसलिये इस रचना का स्थान दक्षिण कोसल होना चाहिए।'[1]

उक्त निष्कर्ष में डा० गुप्त का यह तर्क, कि लेख में दक्षिण तथा पूर्व भारत के अनेक प्रदेश के निवासियों को हीन अथवा वर्णित नायिकाओं और उनके वेशों के लिये झंखते हुए कहा गया है—इसलिये रचना का स्थान दक्षिण कोसल होना चाहिए, कोई सशक्त तर्क नहीं कहा जा सकता। किसी प्रदेश की नायिका को देखकर यदि कुछ दूसरे प्रदेश के पुरुषों या नायकों को स्पर्धा हो, यह सत्य इस निर्णय का आधार बनाया जाय कि इसलिये यह रचना उस प्रदेश की है या होनी चाहिए तो यह कोई वैज्ञानिक बात नहीं होगी। इसमें जो कथ्य है, वह

1. राउलवेल और उसकी भाषा : डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २०।

यही है कि रचना में वर्णित नायिकाओं के वेशों और सौंदर्य को देखकर उसी प्रदेश के आसपास के लोग ही झंख सकते थे। और क्योंकि रचना में दक्षिण तथा पूर्व भारत के अनेक प्रदेशों के निवासियों को (रचना के प्रदेश के पुरुषों की तुलना में कदाचित्) हीन कहा गया है अतः रचना के स्थान का संबंध ऐसे ही प्रदेशों से होना चाहिए, दूसरे प्रदेशों के निवासियों से इनका कोई संबंध नहीं, अतः रचना दक्षिण पूर्व भारत के सीमांतों को मिलानेवाले प्रदेश दक्षिण कोसल की ही है। डा० गुप्त के इस निर्णय से हम सहमत नहीं हैं। उसके कई कारण हैं। उनका सारांश इस प्रकार है।

सौंदर्यमयी स्त्रियों की चर्चा केवल उनके अपने देश में ही हो यह आवश्यक नहीं है। उस प्रदेश विशेष से वह चर्चा बाहर भी जा सकती है। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं है कि उनकी रूपचर्चा वहाँ के आसपास या उससे मिलते जुलते प्रदेशों के लोग ही करें और संतप्त हों। सौंदर्यमयी स्त्रियों की चर्चा तो देश विदेशों तक पहुँचती ही है। जायसी की कृति की नायिका पद्मावती तो सिंघलद्वीप की थी, महाराज दशरथ की रानी केकेयी कैकय प्रदेश की तथा ढोला के लिये मरवण का प्रदेश भी सैकड़ों मील की दूरी लिए था। जायसी ने 'पद्मावत' में पद्मावती का सशक्त वर्णन किया है और पद्मावती के रूप पर नहीं, केवल गुणश्रवण पर ही मुग्ध हो नायक रत्नसेन चित्तौड़ से चल पड़ा था तो फिर पद्मावती का स्थान सिंघल न होकर, चित्तौड़ के आसपास ही कहीं होना चाहिए था और कवि जायसी को भी या तो सिंघल का होना चाहिए था, अथवा सिंघल से ही मिलते जुलते प्रदेश का। नायक रत्नसेन को भी चित्तौड़ का न होकर सिंघल के ही आसपास के किसी प्रदेश का होना चाहिए था।

अनिंद्य सुंदरियों के रूप के लिये तत्तत् प्रदेशों और अन्य बाहर के प्रदेशों के न जाने कितने लोग झंखते होंगे। यह तथ्य काव्य के रचनास्थान को कहाँ तक प्रभावित कर सकता है, यह विचारणीय है।

दूसरी बात कि, क्योंकि इसमें गोल्लों, कानोड़ो, टेल्लों, ओड्रों तथा गोड़ों के नाम आए हैं, इसलिये रचना का सर्जन स्थान ऐसा हो जो इन्हीं प्रदेशों से मिलता जुलता हो और क्योंकि ऐसा प्रदेश दक्षिण कोसल है, इसलिये रचना का स्थान दक्षिण कोसल है। डा० गुप्त का यह तर्क भी कोई पुष्ट वैज्ञानिक तर्क नहीं कहा जा सकता। कोई भी बुद्धिवादी पाठक इसे एक सामान्य दलील ही कहेगा। एक बात यहाँ कही जाने योग्य है और वह यह कि यदि थोड़ी देर के लिये रचना को दक्षिण कोसल की मान भी लें तो भी कुछ असंगतियाँ उठ खड़ी होती हैं। रचना का नायक कोई गौड़ राजपूत सामंत है और उसकी नायिकाएँ भिन्न भिन्न प्रदेशों की हैं। जिनमें एक पश्चिमी प्रदेश की, एक महाराष्ट्र की, एक गुजरात

की, एक टक्किणी तथा दो मालवीयाएँ हैं। सामंत की इन्हीं नवविवाहिताओं के वेशों के लिए गोल्ल, टेल्ल, ओड्र, कर्नाट आदि प्रदेशों के नायकों को झँखते हुए दिखाया गया है। सामंत के लिये यह बात स्पष्ट होती है कि उसने भिन्न भिन्न प्रदेशों से छाँट छाँटकर सुंदरियों से विवाह किया और सुंदरियाँ भी ऐसी अनिंद्य, कि जिनके लिये दूसरे आसपास के प्रदेशों के लोग हीन कहे जायँ और उनके वेश ऐसे कि जिनके लिये वे झंखें और कवि ऐसी सुंदरियों के रूप काव्य में ढालें, अतः रचना को उसी प्रदेश के लिये सीमित कर दिया जाय। ये सारी बातें, शंकाओं का समाधान नहीं देतीं। आखिर उस सामंत ने भी तो उन नायिकाओं की रूप चर्चाएँ दक्षिण कोसल से अनेक मील दूर बाहर से सुन सुनकर उनसे परिणय किया होगा। फिर इस रचना का स्थान अन्य कोई प्रदेश (दक्षिण कोसल से इतर) क्यों न माना गया ? उसके वर्णन को महत्त्व देकर ही कवि का रचनास्थान उसी प्रदेश के आसपास का निर्धारित कर दिया गया। शिलालेख का प्राप्तिस्थान धार (मालवा) रहा और इसका कवि दक्षिण कोसल का निकला। दक्षिण कोसल से धार की दूरी भी विस्मृत नहीं की जानी चाहिए। ऐसी स्थिति में लगता है कि डा० गुप्त का यह निर्णय किसी ठोस प्रमाण पर आधृत न होकर केवल अनुमान पर ही टिका है और अनुमान पर आधारित निर्णय ऐसे ही होते हैं। डा० गुप्त ने उक्त प्रदेशों के नाम बताकर जैसे उनकी समता का एक ही प्रदेश दक्षिण कोसल खोज निकाला हो और रचना और उसके पाठकों पर थोप दिया हो।

हमारी धारणा तो यह है कि रचनाकार मालवा के अर्थात् राजस्थान के ही किसी सामंत या राजपुरुष का आश्रित था और राउलवेल का रचनास्थान दक्षिण कोसल न होकर पश्चिमी राजस्थान (मालवा) ही था।

अतः डा० गुप्त का रचनास्थान-विषयक यह साक्ष्य तो उपयुक्त एवं संदेह से परे नहीं लगा ; हाँ, उनकी भाषावाली बात गले उतरती है। यदि पूरी रचना की भाषा पुरानी दक्षिण कोसली है, तो रचना और रचनाकार दोनों को दक्षिण कोसल स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं। किंतु दोनों बातें ऐसी नहीं हैं। न रचना ही दक्षिण कोसल की है और न रचनास्थान ही दक्षिण कोसल। और रचनाकार का तो हमारे मत से वहाँ होने का प्रश्न नहीं उठता। अपने मत की पुष्टि हम अलग से रचना की भाषा शीर्षक लेख में और भी विस्तार में करेंगे :

डा० गुप्त ने, जिस तरह गोल्ल, टेल्ल, कानोड, ओड्र तथा गौड़ आदि प्रदेशवाची शब्दों से, कुछ प्रदेशों की ओर संकेत कर कृतिकार के लिये इन्हीं

प्रदेशों से मिलता जुलता प्रदेश दक्षिण कोसल खोज निकाला है, (जो वस्तुतः एक खींचातानी सी लगती है), उसी प्रकार हम भी इन शब्दों के संबंध में एक विकल्प प्रस्तुत करना चाहते हैं। यह विकल्प किसी ठोस वैज्ञानिक आधार पर नहीं, केवल राजस्थान में प्रचलित इन शब्दों के बोलीवाले रूप की जनपदीय स्थिति ही हमारी इस धारणा के मूल में है। गोल्ल, टेल्ल, कानोड़, ओड्र तथा गौड़ आदि शब्दों की लोकभाषात्मक स्थिति देखिए—

१. गोल्ल

गोल्ल शब्द राजस्थान, मालवा (और गुजरात में भी कदाचित्) गोला के रूप में प्रचलित है। गोला दरोगा या दास को कहते हैं और दरोगा का ही दूसरा नाम गोला है। इस वर्ग का संबंध किसी न किसी प्रकार सामंत या राजा से होता ही है। यही नहीं, राजमहिषी, रानी अथवा जागीरदार की पत्नी की सेवा करनेवाली दासियों को हमारे यहाँ (राजस्थान में) गोली कहते हैं। अतः यह गोल्ल संभवतः इस गोला का ही पूर्व रूप रहा हो। यों यह शब्द राजस्थान में आज भी सामान्यजन की भाषा में पूर्णतया प्रचलित शब्द है।

२. टेल्ल

टेलवा, टेलवार, टेला आदि रूपों में प्रचलित है, जिसका संबंध भी राजघरानों की सेवा करनेवाले वर्ग से ही होता है।

३. कानोड़

कानोड़ उदयपुर राज्य के अंतर्गत एक छोटा कस्बा है जिसके शासक रावजी बोले जाते हैं और यहाँ के निवासी कानोड़ या कानोड़वासी कहे जा सकते हैं।

४. गौड़

पश्चिमी राजस्थान, प० मालवा और गुजरात में गौड़ राजपूत और ब्राह्मणों की जाति शाखाएँ आज भी विद्यमान हैं।

५. ओड्र

राजस्थान में पत्थर खोदनेवाली, पत्थर तोड़नेवाली और किले आदि बनानेवाली जंगली जाति का यह नाम है। इन्हें 'ओड' बोलते हैं। यह जाति डेरों में खानाबदोश की तरह जगह जगह घूमती है, जैसे राजस्थान और मालवा के बनजारे; पर आज भी ओड़ शब्द बोलचाल में पत्थर तोड़ने और किले आदि बनानेवाली जाति के लोगों के लिये प्रयुक्त होता है। अतः ओड शब्द भी राजस्थान के लिये पूर्ण लोकप्रचलित है।

उक्त शब्दावली के हमारे अपने विश्लेषण में इस विशिष्ट जाति या वर्ग के लोगों के लिये यह बात स्पष्ट होती है कि ये सभी निम्न वर्ग के लोग हैं और इन

लोगों के लिये इस तरह का कार्य (किसी सुंदरी स्त्री को देखकर झंखना) कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है। इन लोगों का सौंदर्यबोध और इनकी समाजव्यवस्था उच्च वर्ग के लोगों से एकदम भिन्न है और सामंत के भृत्यवर्ग के लोगों का यह दुर्व्यवहार देखकर ही सामंत ने इन्हें अपने यहाँ बंदी बनाकर जेल में डाल दिया हो, जैसा कि प्रायः होता रहता था, और कवि रोड़ ने इन्हें ही संबोधित करके, काव्य में स्थान स्थान पर इन्हें हीन कहकर वहाँ की नायिकाओं के सौंदर्य और वेश परिवेश के लिये झंखता हुआ बताया हो। और यह संयोग है कि इन सभी लोगों का संबंध किसी न किसी प्रकार राजवर्ग से ही रहा है।

प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक प्रेमगाथाओं में ऐसे कई कथानक मिल जाते हैं जिनमें किसी अनिंद्य सुंदरी राजकन्या के सौंदर्यवश पर मुग्ध हो, उच्चवर्ग के ही नहीं, कई मध्यम श्रेणी के पुरुष भी घर से जोगी बनकर अथवा प्रेमी के अन्य किसी भी रूप में घर से निकल पड़ते थे और कई बार तो ऐसे निम्नश्रेणी के प्रेमियों की गाथाएँ प्रेम की उत्कट तीव्रता को प्राप्त करती दीख पड़ती हैं। अतः हमारी उक्त शब्दावली से नामाभिहित पुरुष यदि सामंत की क्षमता में अपराधी होने के नाते, कवि को हीन दिखाई पड़ें या उन्होंने अपनी औकात से बाहर का कार्य किया, तो इसमें आश्चर्य नहीं। पर इसके लिये भी उन पर कोई बंधन नहीं था कि वे सुंदरियों का रूपचर्चा भी न कर सकें या उनकी ओर झाँक भी न सकें। यदि प्राप्ति की कामना उनके वश के बाहर थी तो उसकी रूपचर्चा कर उनकी ओर झाँकना भी कोई अपराध था?

उक्त संदर्भ में कृति में प्रयुक्त 'झंखइ'[२] शब्द पर भी हम यहाँ कुछ कहना चाहते हैं। राउलवेल में शब्द 'झंखइ' प्रयुक्त किया गया है। डा० गुप्त ने इसे कृति की शब्दानुक्रमणी में यों स्पष्ट किया है—

झंख् : (सक०) = उपालंभ देना, अथवा (अक०) = संतप्त होना, निश्वास लेना।[3]

राउलवेल के संदर्भ में इसका अर्थ उन्होंने संतप्त होना ही लगाया है। शब्दानुक्रमणी में उन्होंने इस शब्द के केवल अर्थ को स्पष्ट किया है। और संभवतः यह अर्थ उन्होंने प्राकृत के शब्दकोश पाइय सद्द महण्णव के आधार पर किया है।

२. राउलवेल और उसकी भाषा, पंक्ति १०, १५, पृ० ८८, डा० गुप्त।
३. वही, पृ० ११४।

हमारे मत से यह शब्द कोई विशिष्ट शब्द नहीं। पुरानी हिंदी और गुजराती के काव्यों में भी इसका प्रयोग मिल जाता है। 'झंखइ' शब्द के यों कई अर्थ हैं पर इस रचना में इस शब्द का सामान्य अर्थ 'झाँकना' या देखना ही होता है। इस शब्द का स्पष्टीकरण देखिए—

झख—शब्द प्राकृत में 'झंखइ' रूप में प्रयुक्त किया गया है। हेमचंद्र ने भी 'झंख' का प्रयोग किया है। पुरानी हिंदी के काव्यों में इसका प्रयोग झखइ झंखइ, झाँखइ आदि रूपों में मिल जाता है। छंद के कारण कहीं कहीं इसका, अनुस्वार उड़ा दिया गया है। इस शब्द के देखना, दुख देना, संतप्त होना, विलाप करना, आकांक्षा करना और धुँधलाजाना आदि अर्थ होते हैं। प्रयोग देखिए—

१. झखइ लांखइ लावर आकुलउ
   विरह विहल वांतर वाउलउ[४]
२. [तेह] नि याहि मूकी जाय
   तेजहीन ते झांखु थाय[५]
३. पुष्कर झांखु थई रह्यु
   नल वचन वाल्यु सार[६]

गुजराती में झांखु या झंखना—तीव्र आकांक्षा, धूमिल दिखाइ पड़ना और झाँकी या झलक अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्राकृत में 'झंख' धातु के अर्थ संताप करना, विलाप करना, निश्वास छोड़ना, आलंभा (उपालंभ) देना, प्रसन्न रहना आदि मिलते हैं। जूनी गुजराती में इसके झांखु, झंखवु, झांखउं, झांकी आदि रूप मिलते हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि यह शब्द अंशतः संतप्त होना अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उससे कहीं ज्यादा देखना, धुँधलाना, आकांक्षा करना एवं निश्वास लेना आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

यही नहीं, राजस्थानी के प्राचीन काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' में भी 'झँखइ' शब्द का सफल प्रयोग देखने के अर्थ में हुआ है।

झंखइ : आदी ताहूँ ऊजलो, मारवणी-मुख-अन्न।
झीणा कप्पड़ पहिरणइ जाँणि 'झंखइ' सोवन्न ॥[७]

४. विराट पर्व, पंक्ति ३१, पृ० ३१ जी० ओ० एस० सी० १८, पृ० ३१।
५. नलाख्यान, भालण; म० स० वि० बड़ोदरा, पृ० २५।
६. वही, पृ० ७४।
७. ढोला मारू रा दूहा, ४६३

झाँखउ : माढवणी मुँह वंन, आदित्ताहूँ उज्जलो।
सोइ 'झांखउ' सोवंन्न जो गलि पहिरउ रूप कउ ॥[८]

उक्त दोनों दोहों में झंखइ और झांखउ शब्दों का अर्थ देखना, झाँकना या झलकना ही होता है। जब कि डा० गुप्त ने यहाँ भी 'झंखइ' का अर्थ संतप्त होना ही किया है। 'जाँणि झंखइ सोवन्न' का अर्थ उन्होंने 'मानो सोना झंख रहा हो' किया है जो इस संदर्भ में उचित नहीं है। 'झीने वस्त्रों में से मानो सोना झंख रहा हो' यह अर्थ प्रसंगानुकूल नहीं कहा जा सकता। डा० गुप्त ने श्री अगरचंद नाहटा के—'झीने वस्त्रों में से स्वर्णवर्णी देह झाँकती है या झलकती है' अर्थ, जो प्रसंगानुकूल और उचित है, को (झंखइ शब्द का झाँकना अर्थ मान कर भी), अस्वीकार किया है और तर्क देते हुए विवेचन में लिखा है—'झाँकना एक शब्द है, झाँखना, 'झंखना' दूसरा। दोनों को एक सिद्ध करने के लिये प्राचीन साहित्य से भी कुछ प्रमाणों को देने की अपेक्षा है।' आगे वे 'झाँकना' अर्थ को स्वीकार करते हुए लिखते हैं—'यदि दोहा ४६३ (ऊपर प्रथम) में 'झाँखना' का अर्थ झाँकना मान भी लिया जाय तो वह सोरठा ४६४ (उक्त द्वितीय उदाहरण) में लागू नहीं होता, यद्यपि दोनों की उक्ति और शब्दावली ३।४ अंशों में एक ही है। झीने कपड़े में से भले ही शरीर का झाँकना संगत हो, गले में पहना हुआ चाँदी का आभरण भी झाँकता है, यह अर्थ संगत नहीं लगता है।'[९]

यहाँ दोनों उद्धरणों में 'झंखना' शब्द का अर्थ केवल झाँकना या झलकना होता है। डा० गुप्त उसमें प्राकृत के 'झंखइ' (संतप्त होना) अर्थ को खोजने और निकालने में व्यर्थ ही परेशान हैं। अतः उनका दोहा ४६३ का अर्थ—'नायिका के झीने कपड़े का परिधान उसके शरीर की कांति से ऐसा लगा मानों स्वर्ण झंख रहा हो'—'झंख' शब्द का संतप्त होना अर्थ करने के कारण ही है। दूसरे सोरठा ४६४ का उनका अर्थ भी—'नायिका के शरीर की कांति से उसके गले में पहना हुआ चाँदी का आभरण भी स्वर्ण जैसा झंखा'—ठीक नहीं। वहाँ 'स्वर्ण की भाँति दिखाई पड़ने लगा'—यह सही अर्थ होना चाहिए। इस

८. वही, (सोरठा) ४६४।
९. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, मालवीय शती अंक, पृ० ४८३-४८४ में डा० माताप्रसाद गुप्त का लेख—ढोलामारू रा दूहा' के अर्थसंशोधन पर विचार।

तरह डॉ॰ गुप्त के दोनों स्थलों पर प्रयुक्त झंख शब्द का संतप्त होना अर्थ एकदम ठीक नहीं। उनको दरअसल यह झंख का संतप्त होना अर्थ (पा॰ स॰ म॰) ऐसा जम गया है कि वे इस अनेकार्थवाची शब्द का कोई अन्य अर्थ स्वीकार करने को तैयार ही नहीं थे और इसी लिये उन्होंने नाहटा जी के अर्थों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। वास्तव में 'झंखना' शब्द का अर्थ उक्त दोनों प्रसंगों में झाँकना या झलकना ही सही है और इस संदर्भ में 'संतप्त होना' अर्थ कतई स्वीकार्य नहीं है। 'ढोला मारू रा दूहा' के उनके और भी कई दोहों के अर्थों में इसी प्रकार की भ्रांतियाँ हैं, यह सब उनकी राजस्थान की उक्तियों से अपरिचिति के कारण ही हुआ है। दूसरा कारण है उनका लोककाव्यों, जनप्रचलित लौकिक शब्दावली के व्यवहार आदि को कम महत्व देना। वे कोश को ही एकमात्र आधार बनाते हैं, इसीलिये उनके अर्थों में इस तरह की असंगतियाँ हो जाती हैं। राउलवेल में उन्होंने इसी लिये १० शब्दरूपों को छोड़ दिया क्योंकि कोशग्रंथ उन पर मौन हैं।

'झंखना' शब्द की राउलवेल में भी यही स्थिति है। यहाँ भी यह शब्द देखने (झाँखने), आकांक्षा करने और आह भरने या निश्वास छोड़ने के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। राउलवेल में यह शब्द इस प्रकार आया है—

पंक्ति १० चा वल भण हुणि तो मेढी 'झांखइ'
ते आपुली गंवारिंव आखइ

पंक्ति ११ एहु कानोडउं का इसउ 'झांखइ'
वेसु अम्हाणउं ना जउ देख इ

पंक्ति १६वीं केहा टेहिलपुतु तुहुं 'झांखहि'
अडु...वेहु तुहुं आख [हिं]

डा॰ भायाणी के पाठ में डा॰ गुप्त के पाठ से कुछ अंतर है। उक्त तीनों स्थलों में 'झांखहि' शब्द का अर्थ 'देखना' ही होता है। यदि अन्य अर्थ लगाए भी जायँ तो भी 'आकांक्षा करना, और निश्वास छोड़ना ही लगने चाहिए। 'संतप्त' होना अर्थ यहाँ केवल दूर की कौड़ी या काम चलाऊ जैसा ही लगेगा। उक्त तीनों उद्धरणों की पंक्तियों की शब्दावली में भी कई शब्दों के अर्थ डा॰ गुप्त ने ठीक नहीं किए हैं; उदाहरणार्थ, हुणि, आपुली आदि। हणा, हवा, हुवा इन तीनों शब्दों का अर्थ राजस्थान की बोलचाल की भाषा में 'अब' या 'अभी' होता है, जब कि डा॰ गुप्त ने इसका अर्थ हूण (इस नाम के प्रसिद्ध अनार्य देश का निवासी) कर, जाने क्यों उसे 'हूण' जाति के निवासी से जोड़ दिया है।

डा० गुप्त 'झाँखइ' और 'झंखइ' का अर्थसाम्य अनुभव करने के लिये प्राचीन ग्रंथों के उद्धरण देने के लिये कहते है। हमने पीछे पुरानी हिंदी के विराटपर्व (शांति सूरि १४७८), भालणकृत नलाख्यान (गु०) 'ढोलामारू रा दूहा' आदि ग्रंथों से 'झंखइ' शब्द के उदाहरण दिए हैं। यहाँ हम हिंदी की प्रसिद्ध कृति बीसलदेव रासो में भी 'झंखइ' शब्द का प्रयोग प्रस्तुत कर रहे हैं—

बाधतउ जोबन बिरह की झाल
लंघण कोई लाग्यउ नहीं
पगि पगि न 'झंषियउ' आल[10]

यहाँ भी डा० गुप्त ने 'झंषियउ' शब्द का अर्थ दुखी हुई (संतप्त हुई) ही किया है जो इस संदर्भ में ठीक नहीं बैठता। उन्होंने अर्थ किया है—इस बढ़ते हुए यौवन और बढ़ती हुई विरह की ज्वाला में भी कोई लांछन (मेरे चरित्र पर) नहीं लगा और न मैं हे सखी ! पग पग पर आड़ (आलंब या रक्षा) के लिये झंखी (दुखी हुई) ।'

यहाँ 'झंषियउ' और 'आल' दोनों शब्दों के अर्थों से हमारा मतभेद है। 'झंषियउ' का अर्थ 'इधर उधर कहीं देखा' होना चाहिए। और 'आल' शब्द का अर्थ आड़, आलंबन या रक्षा करना भी ठीक नहीं है। 'आल शब्द का सही अर्थ व्यर्थ का झंझट, जाल रचना, असत्यता आदि होते हैं। प्राचीन कृतियों में इसे देखिए—

आल : करई ति गायण आलवि आल वि मनइं वीण[11]

आलु : कांठो बेंटी वंडिरो आलु[12]

आलु : तेरउ आण गयउ सब आलु
इह तउ रूपिणि तणउ उगालु[13]

१०. बीसलदेव रास, पृ० १६१, पद १२१; संपादक डा० माताप्रसाद गुप्त और अगरचंद नाहटा ।

११. नेमिनाथ फागु, पृ० ६७, पंक्ति १८ (गुर्जर रासावली) ।

१२. राउलवेल और उसकी भाषा, पृ० ८६, पंक्ति २१ ।

१३. प्रद्युम्न चरित, पृ० २१, पंक्ति ११, अतिशयक्षेत्र कमेटी, जयपुर ।

आलउ : कवणिय परिमल आलउ बालउ आणिणि देह[१४]

उक्त सभी कृतियों में 'आल' शब्द इतने रूपों में मिल जाता है। पर इनमें कहीं भी 'आल' शब्द का आड़, अवलंब या रक्षा अर्थ नहीं मिलता। डा० गुप्त ने ही इसका अर्थ आड़ (आलंब या रक्षा) किया है। यही नहीं, राजस्थान और मालवा में 'आल' शब्द गीला और हरा अर्थों में (बोलचाल की भाषा में) आज भी प्रयुक्त होता है। अतः बीसलदेव रास की उस पंक्ति का अर्थ यों होना चाहिए: 'हे सखी, मैंने कदम कदम (सँभालकर रखा) पर कहीं भी इधर उधर न देखा' 'यौवन की असाधारण बाढ़ होने और विरह की लपटों के होने पर भी मेरे चरित्र पर कहीं लांछन नहीं लगा और न मैंने इधर उधर किसी पर दृष्टि डालने की झंझट (आल = बवाल) ही की। पग पग पर संभली रही।'

यहाँ 'झँखइ और 'आल' दोनों शब्दों का हमने स्पष्टीकरण कर दिया है।

उक्त सभी उद्धरणों में 'झंखना' शब्द का सामान्य अर्थ झाँकना या देखना ही अधिक प्रयुक्त हुआ है और यही उचित भी है। अतः राउलवेल के संदर्भ में ही इस शब्द का यही अर्थ होना चाहिए। और यदि डा० गुप्त 'झंखइ' का अर्थ झाँकना स्वीकार लेते हैं तो फिर उन विभिन्न प्रदेश के निवासियों पर संतप्त होने का, लांछन लगने का प्रश्न भी यहीं निःशेष हो जाना चाहिए। वस्तुतः उनके झंखने का तात्पर्य केवल देखना या झाँकना होना चाहिए। रोउलवेल के संदर्भ में झंखना शब्द का अर्थ झाँकना ही होता है और उसमें कवि ने 'झांखइ' शब्द का प्रयोग भी किया है। इस तरह इसमें वे लोग झंखते हुए (संतप्त होते) अर्थ में स्पष्ट नहीं किए गए हैं और जब वे सामंत की सुंदरियों को देखने भर का ही प्रयास करते हैं तब ऐसा कोई अपराध भी नहीं है। फिर जब वे संतप्त नहीं होते (हमारे मत से) तब उनकी हीनता का वर्णन भी कवि का इष्ट नहीं हो सकता। हाँ, उसमें यदि कवि ने ग्रामीण को गँवार 'गँवारइ', कह दिया तो यह कोई गाली नहीं है। यों भी पूरी रचना में इन प्रदेशों के (दक्षिण पूर्व भारत के) निवासियों की हीनता के लिये कवि का कोई उल्लेखनीय वर्णन नहीं है। केवल तुम क्यों झंख रहे हो, ऐसा वेश तुम्हारा नहीं, यह तो इसी का हो सकता है, आदि आदि कुछ स्थलों के संकेत भले-समझे जा सकते हैं। इसलिये उन निवासियों की हीनता और झंखना आदि के वर्णन भी इतने महत्वपूर्ण तत्व नहीं

१४. प्राचीन फागु संग्रह, पृ० १८, पंक्ति १५–१६।

कहे जा सकते कि इसके लिये डा० गुप्त को एक प्रदेश की ही खोज करनी पड़े। वस्तुत: यह सारा विवेचन हमने यह स्पष्ट करने के लिये किया है कि कृति की रचना मध्य राजस्थान (मालवा) में ही हुई और इसका रचनास्थान भी राजस्थान ही था, इसको दक्षिण कोसल का कहना उसके मूल तत्वों की उपेक्षा करना कहा जायगा। अतः इस पर पुनर्विचार के लिये मैं विद्वानों का विनम्रता से ध्यान आकर्षित करता हूँ।

रचना का विषय

रचना का विषय नखशिखवर्णन या रूपचित्रण है। यह वर्णन सामंत की नायिकाओं का है, जिनमें से कुछ सद्य:परिणीताएँ रही होंगी। वे सभी नायिकाएँ अनिंद्य सुंदरियाँ ही थीं। क्योंकि कवि रोड ने उन्हें अपने वर्णन का विषय बनाया और इस योग्य समझा कि वह उनके रूप को काव्य में ढाले। अतः उन नायिकाओं का अप्रतिम सौंदर्य और कवि रोड का मुक्त सौंदर्यबोध दोनों ही निर्भ्रांत एवं उल्लेखनीय कहे जायँगे। इस समस्त वर्णन को छह नखशिखों के रूप में बाँटा गया है। आदि और अंत भाग को छोड़कर कुल नखशिख पंक्तियों के आधार पर इस प्रकार है--

प्रथम नखशिख	१ से ५ तक
द्वितीय नखशिख	५ से १० तक
तृतीय नखशिख	१० से १४ तक
चतुर्थ नखशिख	१५ से १६ तक
पाँचवा नखशिख	१६ से २८ तक
छठा नखशिख	२८ से ४१ तक

ये सभी नखशिख सामंत की छह नायिकाओं के हैं। डा० मायाणी ने इसमें आठ नखशिखों की कल्पना की थी।[15] डा० माताप्रसाद गुप्त ने छह नखशिख स्पष्ट किए हैं।[16] रचना के विषयविस्तार से स्पष्ट होता है कि इसमें ऐसी नायिकाओं के सौंदर्य को रूपायित किया गया है, जो परिणय के बाद उस सामंत के गृह की शोभा बढ़ा रही हैं और इन सब नायिकाओं को सजाया जा रहा है। इनमें कवि ने राउल का नाम स्पष्ट किया है, शेष नायिकाओं के नाम नहीं

१५. भारतीय विद्या, भाग १७, अंक १-३।
१६. राउलवेल और उसकी भाषा पृ० २०, २१।

मिलते। इसका कारण कदाचित् यह रहा हो कि राउल ही उनमें सद्यःपरिणीता हो और उसका रूप सबके रूपों से अधिक सुष्ठु और सुंदर रहा हो। पर डा० गुप्त ने इन सभी नायिकाओं को सामंत की नववधुएँ माना है और अपनी इस मान्यता की पुष्टि उन्होंने रचना में प्रयुक्त 'ओलग' शब्द से की है। डा० भायाणी ने इसको 'ऊलग' लिखा है। डा० गुप्त ने 'ओलग' शब्द का संबंध हेमचंद्र के देशी नाममाला के 'ओलग्रणी' शब्द से माना है और इसे अव्–लग् से व्युत्पन्न कहा है। उनके अनुसार कवि ने 'ओलग' शब्द नववधू के लिये ही प्रयुक्त किया है, क्योंकि हेमचंद्र ने भी अपने ग्रंथ 'देश नाम माला' में नववधू के लिये 'ओलग्रणी' शब्द का प्रयोग किया है। संभवतः ओलग्रणी ही कालांतर में ओलग हो गया हो।

डा० गुप्त लिखते हैं — 'यह शब्द अव + लग् से बना ज्ञात होता है, जिससे बना हुआ 'ओलग' 'शब्द रचना में तीन स्थानों पर आया है'—

राउलवेल—१. जहिं घरे अइसी ओलगं पइसइ — (पंक्ति १४)

२. मुह ससि ओलगं च···नावइ — (पंक्ति २२)

३. अणु मुहचद 'ओलग' गइं नखत वाल सतावीस

हा···री अइसउ नावइ—(पंक्ति ३७)

डा० भायाणी ने 'ओलग' पाठ के स्थान पर 'ऊलग' पाठ दिया है। बहरहाल, रचना में प्रयुक्त यह शब्द ओलग हो या ऊलग (जो दोनों में से एक तो होगा ही)। इसमें कोई आपत्ति नहीं यह शब्द केवल नववधू के अर्थ में प्रयुक्त हो या सुंदरी के अर्थ में। मंतव्य कवि की सौंदर्यानुभूति और उसकी प्रेरणा अनिंद्य सुंदरी से है। पर हमें आपत्ति डा० गुप्त के इस कथन से है —

'ओलग' का अर्थ सामान्यतः सेवा या चाकरी होता है और इस अर्थ में यह शब्द 'बीसलदेव रास' (प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित संस्करण) में 'ऊलग' रूप में अनेक बार आया है।'[१७]

उक्त उद्धरण में उन्होंने जो 'ओलग' शब्द का अर्थ किया है, उससे हमारा मतभेद है। एक ओर तो वे ओलग शब्द का अर्थ सामान्यतः सेवा या चाकरी करते हैं और दूसरी ओर बीसलदेव रास में प्रयुक्त ऊलग शब्द से इसका संबंध स्पष्ट करते हैं। उन्होंने 'ओलग' को 'ऊलग' रूप में बीसलदेव रास में प्रयुक्त हुआ माना है, जो अपने आप में एक बड़ी भ्रांति है। बीसलदेव रास में प्रयुक्त 'ऊलग' शब्द का अर्थ कहीं भी सेवा या चाकरी नहीं है। डा० गुप्त ने

१७. राउलवेल और उसकी भाषा, पृ० २१।

जाने क्यों प्रबुद्ध पाठकों को 'ऊलग' शब्द का अर्थ सेवा या चाकरी करके भ्रम में डाला है। जब कि उन्होंने स्वयं बीसलदेव रास में ऊलग शब्द का अर्थ कहीं भी सेवा या चाकरी नहीं किया। इस बात का स्पष्टीकरण हम पाठकों और विद्वानों के समक्ष करना चाहते हैं।

बीसलदेव रास में प्रयुक्त 'ऊलग' शब्द संबंधी जिन स्थलों को डा० गुप्त ने 'राउलवेल' में उद्धृत किया है वे अग्रांकित हैं —

पंक्ति ऊलग कइ मिसि गम करउ (पद्य ३५ पंक्ति ५)
डा० गुप्त द्वारा ही किया अर्थ—
[ऊलग (प्रवास) के मिस (बहाने) मैं जाता हूँ]

पंक्ति : सइंभरि धणीय किउं ऊलग जाइ (३७–१)
अर्थ : ['हे सांभर धनी (बीसलदेव) !' तुम क्यों ऊलग (प्रवास को) जा रहे हो]

पंक्ति : ऊलग जाण कहइ धणी कउण (३६–१)
अर्थ : [ऊलग (प्रवास को) जाने के लिये हे स्वामी ! (राजमती ने कहा) कौन कहता है ?]

पंक्ति : किणि दुख देवर ऊलग जाइ (६–४६)
अर्थ : [(आखिर) किस दुख से हे देवर ! तू ऊलग (प्रवास) को जा रहा है]

पंक्ति : ऊलग जाण कउ घरउ कुसूत (४८ - २)
अर्थ : [ऊलग (प्रवास को) जाने में बड़ी कठिनाइयाँ हैं]

पंक्ति : स्वामी ऊलग जाण की धरीय जगीस (६०–१)
अर्थ : [हे स्वामी ! (राजमती ने कहा) ऊलग (प्रवास को) जाने की तुम्हारी बड़ी इच्छा है तो'''।']

पंक्ति : सखीय इणी कति नाइ कोइ ऊलग जाइ (६५–६)
अर्थ : [हे सखियो ! इस प्रकार भी कहीं कोई पति ऊलग (प्रवास को) जाता है ?]

पंक्ति : तिहि घरि ऊलग काई करेइ (७५–६)
अर्थ : [(पता नहीं) प्रवास में (मेरा पति) उस घर में (वहाँ) क्या कर रहा है]

पंक्ति : ऊलग पूगि घरि आवियउ भरतार (१२१–१)
अर्थ : [ऊलग (प्रवास) पूरा करके मेरा भर्तार (पति) आ गया है]
६ (७०–२)

पंक्ति : म्हाकउ वारयउ तू किउं ऊलग जाइ (१२५–४)
अर्थ : [मैं मना कर रही थी, तब तू ऊलग (प्रवास को) क्यों गया ?]

ये उपर्युक्त दस स्थल[१८] डा० गुप्त ने राउलवेल में उद्धृत किए हैं। इन सभी पंक्तियों में आए ऊलग शब्द का अर्थ स्वयं डा० गुप्त ने 'प्रवास' किया है। इस अर्थ को हमने उक्त पंक्तियों के साथ, बड़े कोष्ठकों में (उन्हीं के शब्दों में, उन्हीं के अर्थ को), यहाँ अविकल उद्धृत किया है। इन सभी स्थलों में 'ऊलग' शब्द का अर्थ केवल 'प्रवास' ही किया गया है। दूसरी ओर उन्होंने राउलवेल में पाठकों को यह कहकर—'ओलग का अर्थ सामान्यतः सेवा या चाकरी होता है और इस अर्थ में यह शब्द बीसलदेव (प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित संस्करण) में ऊलग रूप में अनेक बार आया है।' (यहाँ इस अर्थ में स्थूलाक्षरों में दिए गए शब्दों पर ध्यान दिया जाना चाहिए) पाठकों को वैसे ही समझा या बहका दिया गया है जैसे कान बिंधवाने के बाद, दर्द की अनुभूति को विस्मृत करने के लिये, बच्चे के हाथ में गुड़ या मिठाई की एक डली दे दी जाती है। अब आँख पर पट्टी बाँधकर 'ऊलग' शब्द का 'प्रवास' अर्थ स्वीकार करें या सेवा या चाकरी ? अतः यह स्पष्ट होता है कि डा० गुप्त जैसे विद्वान् भी साधारण पाठकों को किस प्रकार भ्रम में डाल देते हैं।

वस्तुतः बीसलदेव रास में 'ऊलग' शब्द का सही अर्थ अलग होना या वियोग होना है। इसी रास में अलग होनेवाले वियोगी पति के लिये कवि ने 'उलगाणा' या 'उलगाणउ' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द विशुद्ध रूप से अपनी पत्नी से अलग हुए वियोगी पति के लिये ही आया है। राउलवेल में डा० गुप्त ने उलगाणा या अलगाणउ शब्द को कहीं उद्धृत नहीं किया। कुछ स्थल देखिए—

१. काइं विरही उलगाणा री नारि (३–५)
२. उलगाणा गुण बर्णवउं (५–३)
३. चालियउ उलगाणउ घण आण न देइ (४२–१)
४. चालियउ उलगाणउ छंडीय कामिणि (५०–१)
५. चालियउ उलगाणउ लेइ छइ सउण (५७–१)
६. चालियउ उलगाणउ कातिग मास (६७–१)
७. उलगाणउ घर चालियउ (१०६–३)

१८. राउलवेल और उसकी भाषा; पृ० २१।

उक्त सभी स्थलों में उलगाणा या उलगाणउ शब्दों के अर्थ डा० गुप्त ने भी 'प्रवासी' ही किए हैं। इन स्थलों में उन्होंने ऊलग और उलगाणा शब्दों के अर्थ कहीं भी सेवा, चाकरी और सेवक या चाकर अर्थ नहीं किया; फिर 'ओलग' शब्द से 'ऊलग' शब्द के अर्थ का साम्य समझने के लिये पाठक बीसलदेव रास को माध्यम कैसे बना सकता है। यों उक्त स्थलों में भी 'उलगाणउ' शब्द का सही अर्थ अलग होनेवाला, बिछुड़नेवाला या वियोगी होना चाहिए। अतः राउलवेल में प्रयुक्त 'ओलग' शब्द अच्छी खासी भ्रांति का सूचक है।

हमें लगता है डा० गुप्त के द्वारा हुई इस असंगति का कारण राउलवेल में प्रयुक्त 'ओलग' शब्द है। एक ओर उन्होंने इस शब्द के संबंध-रूप के लिये हेमचंद्र के 'ओलग्गणी' शब्द को दिया है, जिसका अर्थ नववधू होता है और दूसरी ओर उन्होंने इसी 'ओलगा' को 'ऊलग' से जोड़कर उसका अर्थ सेवा या चाकरी कर दिया है। इस तरह यह स्पष्ट है कि हेमचंद्र के ओलग्गणी शब्द और ओलग, ऊलग शब्दों के बीच परस्पर संबंध बनने की बात तो दूर रही, उल्टी इनके बीच एक अच्छी खाई तैयार हो गई है। तीनों का अर्थ मिलाइए—

१. ओलग्गणी	=	नववधू	(हेमचंद्र)
२. ओलग	=	सेवा या चाकरी	(राउलवेल)
३. ऊलग	=	वियोगी, अलग होनेवाला	(बीसलदेव रास, राउलवेल डा० भायाणी)

इससे यह स्पष्ट होता है कि ये तीनों अपने आप में स्वतंत्र अर्थवाले और स्वतंत्र सत्ता रखनेवाले शब्द हैं और इन तीनों का परस्पर आंशिक भी अर्थसंबंध नहीं है। अतः 'ओलग्गणी' शब्द से 'ओलग' की व्युत्पत्ति असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है और 'ओलग' से 'ऊलग' में भी परस्पर अर्थसंबंध असंभव है। ऐसी स्थिति में ओलग और ऊलग दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति अलग अलग स्पष्ट होनी चाहिए और राउलवेल के संदर्भ में उनके विशिष्ट एवं सही अर्थ की भी स्थापना होनी चाहिए।

यहाँ एक बात और उठ खड़ी होती है कि डा० गुप्त ने हिंदी साहित्य के इस आदि काव्य राउलवेल में प्रयुक्त 'ओलग' और 'ऊलग' शब्दों को केवल बीसलदेव रास में ही खोजा और इसी रास में प्रयुक्त 'अलग' शब्दसंबंधी पंक्तियों को ही उद्धृत किया तथा ओलग या ऊलग को पुरानी हिंदी के अन्य काव्यों में देखने का प्रयास तक नहीं किया, जब कि बीसलदेव रास का रचनाकाल १६वीं-१७वीं शताब्दी का है। ऐसी स्थिति में इन शब्दों को उत्तर अपभ्रंश के आदिकालीन काव्यों में खोजना चाहिए था। बीसलदेव रास में प्रयुक्त

ऊलग' शब्द ने न तो डा० गुप्त का ही मनोरथ सिद्ध किया और न इसके अर्थ द्वारा हमारी राउलवेल वाली ग्रंथि ही खुली; क्योंकि राउलवेल के संदर्भ में इसका अर्थ 'सेवाचाकरी करनेवाली' नहीं हो सकता। फिर कवि रोड ने 'ओलग' शब्द का क्यों प्रयोग किया ? यह विचारणीय है।

एक बात और भी स्पष्ट कर दें कि डा० गुप्त ने एक ओर तो राउलवेल में इस शब्द का 'ओलग' पाठ स्वीकार किया है और दूसरी ओर इसका अर्थ बीसलदेव रास के 'अलग' शब्द से निकाला है जब कि 'ऊलग' शब्द उनके पाठ से बिल्कुल ही भिन्न अर्थ देता है, जो पाठक के लिये बहुत बड़ी उलझन खड़ी कर देता है।

यों डा० गुप्त ने राउलवेल में इस ऊहापोह के बाद भी ओलग का अर्थ अवलग्नता (सेवा) ही किया है, जो राजभवन की नववधू के लिये उचित नहीं लगता, क्योंकि सामंत की रानी सेविका तो नहीं कही जा सकती। अतः 'ओलग' शब्द के संबंध में पुरानी हिंदी के काव्य और औक्तिक भाषाओं में इसका प्रयोग ही हमारे आलंबन कहे जा सकते हैं।

कोशग्रंथों में संभवतः 'ओलग' शब्द का अर्थ 'सेवा' ही किया गया है और संस्कृत के 'अवलग्न' से ही इसकी व्युत्पत्ति स्पष्ट की गई है। पर राउलवेल के संबंध में इसका 'सेवा' अर्थ कहाँ तक उचित एवं सही होगा, यह विचार का विषय है। यों पुरानी हिंदी की कुकृतियों में भी यह शब्द प्रयुक्त किया गया है। देखिए—

१. अम्ह 'ओलगनो' बाट न जोइ
 भउ भरहेसर विफर न होइ[१९]

२. जाणु राउ ओलगिउं जाणइ
 मायणाहार विरोधिइं मारइ[२०]

उक्त दोनों स्थलों में 'ओलग' शब्द अलग होने या विच्छेद होने का अर्थ ही देता है।

३. इणि परइं जगदीश्वरध्याइयइ
 स्तवन मिसि 'ऊलग' लाइयइ[२१]

१९. भरतेश्वर बाहुबली रास (सं० १२४१), ठवणि ४
२०. वही, ठवणि ५
२१. अर्बुदाचल बीनती (सं० १४६०), पंक्ति २६ (गु० रासावली)।

४. द्रुपदी रहइं 'ओलग' की बइ[२२]
५. हैय दैव कुण दुर्मति दीधी
 एउ 'ओलग' अह्मे कांइं लीधी[२३]
६. गजरथ घोड़ा पायक बहू अ
 पुययइ उलग सारइ सहू अ[२४]
७. तुरीय चढावण आयो भाणु
 उलगाणो को नाही मानु[२५]

उक्त उद्धरणों में अर्बुदाचल बीनती, विराटपर्व, वासुपुज्य मनोरम फाग आदि कृतियों में ऊलग, उलग और ओलग शब्दों का अर्थ 'सेवा' ही किया गया है। अंतिम प्रद्युम्नचरित के उद्धरण में 'उलगाणो' शब्द का अर्थ 'लटक गया' किया गया है[२६] जो संभवतः ठीक नहीं है। इस तरह हमने 'ऊलग' और 'ओलग' के प्रयोग स्पष्ट किए हैं। संस्कृत में अवलग्न और अपभ्रंश में अवलुग्गो अवलग, ओलग आदि रूप मिलते हैं, जिसका अर्थ 'सेवा' ही किया गया है। गुर्जररासावली के विद्वान् संपादकों ने 'ऊलग' शब्द के लिए एक विकल्प और भी प्रस्तुत किया है, वे लिखते हैं—

'बट सम कंसिडर इट आफ द्राविडियन ओरिजिन। सी ट्रांजेक्शन्स आफ द सेवेंथ आल इंडिया ओरिएंटल कांफ्रेंस, बड़ोदाः कन्नरीज वर्ड्स इन ज्ञानेश्वरी, पेज ६४६ ओलंगणे।'[२७]

इसमें वे ऊलग शब्द का उद्भव ज्ञानेश्वरी के कन्नड़ शब्द 'ओलंगणे' से मानते हैं।

इस तरह प्राप्त प्रमाणों से 'ऊलग' शब्द का अर्थ स्त्री के लिये वियोगिनी या 'अलग हुई' और ओलग शब्द का अर्थ सेवा करनेवाली अर्थात् स्त्री ही स्पष्ट

२२. विराटपर्व पंक्ति (सं० १४७८), ५७ (गु० रासावली)।
२३. विराटपर्व, पंक्ति ६६८।
२४. वासुपुज्य मनोरमफाग प्राचीन फागुसंग्रह, काव्य २०, पंक्ति २२, पृ० १७४, डा० भोगीलाल सांडेसरा।
२५. प्रद्युम्नचरित, पृ० ७१, पंक्ति ६३६, (जयपुर संस्करण)।
२६. वही, पृ० १७६।
२७. गुर्जर रासावली इंडेक्स 'ऊलग', पृ० १४६, गायकवाड ओ० सीरीज, बड़ोदा।

होता है। फिर भी हमारे मत से 'श्रोलग' शब्द की स्थिति स्पष्ट नहीं है यद्यपि इसके लिये हम आगे अपना मत भी अलग से दे रहे हैं। बहुत संभव है, राजस्थानी श्रौक्तिकों में 'ऊलग' और 'श्रोलग' शब्दों का और कोई सही अर्थ मिल जाय। यों विद्वान् राउलवेल के संबंध में तब तक 'श्रोलग' शब्द के अर्थ सेवा, और सेवा करनेवाली स्त्री अथवा नववधू स्वीकार करके भले ही संतोष कर लें। ज्ञानेश्वरी के 'श्रोलंगणे' शब्द का भी अर्थ हमें स्पष्ट नहीं है। यह भी संभव है, इसका उद्गम द्रविड़ भाषा में निकल आए। इस संदर्भ में एक तथ्य हमारे मत से यह समझ में आता है कि यों तो 'ऊलग' और 'श्रोलग' शब्द के अर्थ सेवा करना और वियोग होना या अलग होना ही मिलते हैं, पर राउलवेल में 'श्रोलग' का अर्थ यदि अलग हुई या बिछुड़ी हुई करें और 'श्रोलग' का संबंध अलग, अलगाव या अलगत्व से मानें तो अर्थ कुछ सरल हो जाता है तब डा० गुप्त के पाठ का अर्थ यों हो सकता है—

(रा० वे० पं० १४) १. जहि घरे अइसी श्रोलग पइसइ—[जिस घर में ऐसे (अपने प्रिय जनों से बिछुड़ी या अलग हुई सुंदरी प्रवेश करती है]

(रा० वे० पं० २२) २. मुह ससि श्रोलगं च— । नावइ—
[मानों मुख-शशि से (अपनी निज की अलग सत्ता स्पष्ट करता हुआ भी) उसको नमन करता हो]

(रा० वे० पं० ३७) ३. जगु मुह चंद श्रोलगणइं नखत वाल सताइस
[उसकी गले में बँधी एकावली (एक लड़ी का हार) ऐसा शोभित होता है (इसके पूर्व की पंक्ति का अर्थ) मानों वह सत्ताइस नक्षत्रों वाला एक चंद्रमा अलग ही हो जो उसके मुँह के समक्ष नत हो रहा हो।] यहाँ नखतवाल का अर्थ नक्षत्रवाला और श्रोलग शब्द का अर्थ अलग सत्ता धारण किए किया गया है
(या) दूसरा अर्थ

[उसके गले में बँधा (मोतियों का) एक लड़ीवाला हार ऐसा सुंदर लगता है, मानों सत्ताइस नक्षत्रबालाओं को लेकर एक और चंद्रमा नायिका के मुँह के समक्ष नमन कर रहा हो।]

इसमें हार की गोलाई का चंद्रमा से और नक्षत्रबालाओं की उत्प्रेक्षा माला के मोतियों से देखी जा सकती है।

यहाँ भी 'ओलग' शब्द का अर्थ हमने 'अलग' रचा वाला 'अलग से एक चंद्रमा' किया है।

इन अर्थों से 'ओलग' शब्द का अलगत्व या अलग होने का अर्थ स्पष्ट होता है। राजस्थानी में अळगो शब्द बोलते भी हैं जिसका अर्थ होता है परे या अलग अतः 'ओलग' शब्द इस दृष्टि से 'अलगो' या 'अळगो' का ही दूसरा रूप है। उक्त अर्थों की संगति पर विद्वान विचार करें। ये गलत भी हो सकते हैं, पर हमने इस शब्द के संबंध में अपना विकल्प स्पष्ट कर दिया है।

इस तरह हम 'ओलग' और 'ऊलग' शब्दों की इस विस्तृत चर्चा को यहीं छोड़ पुनः उसके नखशिख वर्णन पर विवेचन करना चाहते हैं ताकि रचना के विषय के संबंध में कुछ और विचार कर सकें।

राउलवेल के छह नखशिखों में कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त किए गए हैं, जिनसे इन नायिकाओं के प्रदेश स्पष्ट होते हैं। डा० गुप्त ने यह जो प्रदेशों के संबंध में अपना निर्णय दिया है, उस संबंध में हम यहाँ थोड़ा विचार करना चाहते हैं।

प्रथम नखशिख की नायिका का स्थान रचना की पंक्तियों के खंडित हो जाने से स्पष्ट नहीं हो पाता, पर भाषा से उसे पश्चिमी मध्यदेश की कहा गया है।[२८] दूसरे नखशिख की नायिका महाराष्ट्र की, तीसरे नखशिख की गुजरात की, चौथे में कोई टक्किणी, पाँचवें में गौड़ीया और छठे या अंतिम नखशिख की नायिका मालवीया है।[२९]

इन प्रदेशों के नामों से यह स्पष्ट होता है कि सामंत की ये छह विवाहिताएँ भिन्न भिन्न प्रदेशों की हैं और प्रत्येक नायिका के लिये कवि ने एक नखशिख लिखा है। इन प्रदेशों की ऐतिहासिकता और सीमांतों पर विचार करने पर इनकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। नायिकाएँ एक पश्चिमी मध्यदेश की, एक पश्चिमी राजस्थान या गुजरात की तथा दो नायिकाएँ मालवा की हैं। और बचीं तीन, उनमें एक महाराष्ट्र की, एक गौड़ीया और एक टक्किणी है। इन सब प्रदेशों की जानकारी करने पर यह स्पष्ट होता है कि पश्चिमी मध्यदेश में राजस्थान तथा मालवा आ जाता है। मालवा (वर्तमान मध्यप्रदेश) एक ऐसा प्रदेश है जिसके सीमांत एक ओर गुजरात और महाराष्ट्र का स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर ये सीमांत दक्षिण भारत के प्रदेश, प० राजस्थान, उत्तर प्रदेश एवं विदर्भ

२८. राउलवेल, पृ० २०।
२९. वही।

आदि से मिले हैं। तेलंगाना प्रदेश भी इससे एक तरफ से जुड़ा ही है और गौड़ों का इतिहास स्पष्ट करता है कि मालवा का गौड़ों से संबंध रहा है। इन प्रदेशों के परस्पर जुड़े होने से इनमें रचना में वर्णित नायिकाओं की रूपचर्चाएँ बड़ी सरलता से हो सकती थीं और होती रही होंगी और इन प्रदेशों के नायकों ने संभवत: उन नायिकाओं के रूप की चर्चा सुनकर उनको झंखने (देखने) का यत्न भी किया हो और इसी कारण वे कैद कर लिए गए हों। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि इन सभी प्रदेशों का परस्पर पर्याप्त अंतःसंबंध था। राजस्थान के राजघरानों के विवाहसंबंध कच्छ, भुज, दक्षिण तथा नेपाल तक में हुए हैं और आज भी होते हैं। साथ ही इन प्रदेशों में परस्पर व्यापार आदि भी होते थे। तीर्थस्थानों के कारण यात्रियों का गमनागमन भी हुआ करता था। राजस्थान के यात्री-निर्देशक दल के लोग (गाइड्स) आज भी अनेक भाषाएँ सफलता से बोलकर बाहर के यात्रियों का मार्ग प्रदर्शन करते हैं। चित्तौड़, नाथद्वारा और उदयपुर के पंडों को हमने दक्षिण भारत की भाषाएँ सफलता से बोलते हुए सुना है। यही नहीं, वे बंगला, गुजराती और मराठी भाषा में भी अच्छी तरह बात करते हैं। इस तरह इन भाषाओं के अंतःसंबंध को भी समझा जा सकता है।

राउलवेल का नायक कोई गौड़ सामंत है। वह ११वीं शताब्दी का है और कवि रोड उसका समकालीन था। कृति के नायक सामंत के लिये कहीं से भी कोई साक्ष्य नहीं मिलता। गौड़ राजपूतों का मालवा से पर्याप्त संबंध रहा है और गौड़ राजपूतों की जाति-शाखाएँ आज भी पश्चिमी राजस्थान, मालवा और गुजरात में मिल जाती हैं। इसलिये कृति के नायक का संबंध त्रिपुरी, दक्षिण कोसल के कलचुरी वंश के राजाओं के किसी सामंत से हो, यह बात भी संभव नहीं जान पड़ती। उसका प्रदेश हमारे मत में निश्चित रूप से मालवा ही है जो उस समय पश्चिमी राजस्थान का ही प्रदेश था।

उक्त विश्लेषण से हम कुछ महत्वपूर्ण निर्णय कर सकते हैं। वे इस प्रकार है—

१. कृति का नायक गौड़ सामंत भले ही रहा हो, परंतु उसका निवास-स्थान पश्चिमी राजस्थान (मालवा) ही था।
२. उसने कई अंतःप्रांतीय विवाह किए थे।
३. इन विवाहों ने इन प्रदेशों में अंतर्भाषा संबंध बनाए और व्यापार तथा तीर्थाटन और मठ के कारण इन प्रदेशों की भाषा की शब्दावली का परस्पर सफल विनिमय हुआ।
४. कृतिकार रोड कहीं बाहर का नहीं, वरन् राजस्थान (मालवा) का ही मूल निवासी था, क्योंकि रोड नाम राजस्थान का एक

लोकप्रिय नाम है। अपने एक लेख राउलवेल या राजकुल विलास (?) में हम रोड नाम पर पर्याप्त विचार कर चुके हैं तथा रोड नाम की परंपरा में राजस्थान में और भी रोड नामक कवि हुए हैं।[30]

५. इन प्रदेशों के अंतःसंबंधों के कारण कृति की भाषा में तत्तत् प्रदेशों की शब्दावली का आ जाना अत्यंत स्वाभाविक है।

६. यह भी संभव है कि उसके (कवि के) आश्रयदाता सामंत का इन प्रदेशों से अंतःसंबंध और अंतःप्रांतीय विवाह आदि होने से, वह (कवि) स्वयं बहुभाषाविद् हो गया हो।

७. यह भी संभव है कि ये नायिकाएँ उसके आश्रयदाता की पत्नियाँ रही हों और इनका रूप वर्णन करने में उनसे प्रशंसा प्राप्त करने के लिये उसने उनके मायके के तत्तत् प्रदेशों की भाषाओं की थोड़ी सी प्रसिद्ध एवं प्रचलित शब्दावली का प्रयोग अपने काव्य में कर दिया हो।

अस्तु, यह विषय तब तक विवाद से परे नहीं होगा, जब तक कृति के भाषा-संबंधी प्रश्न का हल नहीं मिल जाता। हमारे उक्त विश्लेषण के मूल में यही बात है कि कृति में सात प्रदेशों की अलग अलग भाषाएँ न होकर एक ही प्रधान भाषा है और दूसरे जनपदों की कुछ शब्दावली उसमें आ गई है, जिसके कारण हमने ऊपर स्पष्ट किए हैं।

डा० गुप्त ने इसके विषय और प्रदेशों के नामों के आधार पर राउलवेल का सप्त-भाषात्मक रूप स्पष्ट किया है और इन विभिन्न प्रदेशों के नामों के कारण ही उन्होंने राउलवेल में सात भाषाओं के होने का निर्णय दिया है। इससे हमारा मतभेद है। हमें पूरी कृति में एक ही प्रधान भाषा प्रयुक्त हुई लगती है, और यह भाषा उस समय की वह काव्यप्रचलित जनभाषा है जो पश्चिमी राजस्थान, गुजरात और मालवा आदि प्रदेशों में उस समय एकछत्र बोली जाती रही होगी। उत्तर अपभ्रंश या यही भाषा उस समय काव्य लेखन का प्रधान माध्यम थी। एक राजस्थानी भाषाविद् होने के नाते हमें यह बात सरलता से समझ में आती है कि इसमें अधिकांश शब्दावली प्राचीन राजस्थानी या जूनी

३०. शोधपत्रिका, वर्ष १४, अंक १ में श्रीब्रजमोहन जावालिया का 'कवि रोड कृत ऋषभदेव जी रो छंद' शीर्षक लेख; वही. वर्ष १५ अंक १, श्री भँवरलाल नाहटा का लेख।

गुजराती की ही है। शेष औक्तिक शब्दों का मिलना कृतिकार के आश्रयदाता के अंतःप्रांतीय विवाहों, प्रांतों के अंतःसंबंधों, व्यापारियों एवं पर्यटकों के विनिमय और गमनागमन तथा स्वयं कवि के बहुभाषाविद होने के कारण ही है। अपने इस कथ्य की, कि पूरी कृति में एक ही प्रधान भाषा है, पुष्टि हम 'राउलवेल की भाषा' पर विचार करते समय विस्तार से करेंगे। इस विवेचन में हमारा मंतव्य केवल यह बात स्पष्ट करना है कि इस रचना के नखशिख-वर्णनों में जिन विविध प्रदेशों के नाम लिए गए हैं, उन प्रदेशों का संबंध कृति की भाषा के साथ जोड़ दिया गया है और उनसे जो अलग अलग सात स्वतंत्र भाषाओं के रूप खड़े कर दिए गए हैं, उनसे कृति की एक भाषाजन्य अन्विति आतिशबाजी की भाँति छिन्न भिन्न हो गई है, जब कि हमारे मत से कृति में केवल एक ही प्रधान भाषा है और उसका रूप सूर्य-चंद्र की सी अन्विति से अभिमंडित है।

राउलवेल में वर्णित नायिकाओं के संबंध में एक शंका हमारे मन में यह भी खड़ी होती है कि क्या यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ये नायिकाएँ भिन्न भिन्न प्रदेशों की हैं? हमें लगता है कि बहुत संभव है, इन नायिकाओं में विभिन्न प्रदेशों की अलग अलग नायिकाएँ न भी हों और इसके प्रतिकूल वे सब मालवा और पश्चिमी राजस्थान अथवा गुजरात की ही हों, जिनके सुंदर वेश को देखकर ही कवि गौड़ की विभिन्न प्रदेशों की स्त्रियों के रूप एवं वेश का स्मरण हो आया हो और उनसे तुलना में उन्हें श्रेष्ठ कहने के लिये ही कवि ने इन प्रदेशों के एवं वहाँ की नायिकाओं के नाम ले लिए हों, क्योंकि रचना के कुछ स्थल ही हमारी इस शंका के मूल में हैं। इसी लिये हमने इस संदेह को विद्वानों के समक्ष रख देने का साहस किया है।

इस संदर्भ में हम एक बात रचना में वर्णित नायकों या पुरुषों के गोल्लों, टेल्लों, ओड्डों कानोड्डों आदि के संबंध में भी कहना चाहते हैं कि संभवतः ये लोग भी रचना के सामंत के यहाँ बंदी रहे हों, क्योंकि डा० गुप्त के शब्दों में ये लोग उन वर्णित नायिकाओं के वेशों के लिये भ्रंखते थे। अतः सामंत ने इन्हें अपने यहाँ बंदीगृह में डाल दिया हो और काव्य की वस्तु में कवि ने इन लोगों को नीचा दिखाते हुए हीन कहते हुए तथा संबोधित करते हुए ही काव्यरचना की हो। पर यह विकल्प भी रचना के वर्ण्यविषय और उसकी पंक्तियों के कारण ही है। उक्त दोनों शंकाओं के मूल में जो रचना के कुछ स्थल हैं, उनके अर्थ हम यहाँ दे रहे हैं, जिससे हमारी आशंकाएँ निर्मूल न मान ली जायँ।

१. एही टक्किणी पइसति सोहइ

सा निहालि जणु मलमल चाहइ[११]

डा० गुप्त का अर्थ—(राजभवन में) प्रवेश करती हुई इस प्रकार की टक्किणी शोभा दे रही है और इसको निहार कर लोग [आँखें] मलमलकर देख रहे हैं।[१२]

यहाँ भी गुप्तजी ने टक्किणी के अलग प्रदेश की होने का बोध इस अर्थ से कराया है। दूसरी पंक्ति का अर्थ उन्होंने 'इसको निहार कर लोग [आँखें] मलमल कर देख रहे हैं'—किया है। इस अर्थ में उन्होंने [आँखें] अपनी ओर से दिया है। तथा 'मलमल चाहइ' का अर्थ, ' मलमल कर देख रहे हैं', लगाया है। उद्धृत इस दूसरी पंक्ति में यद्यपि 'सोहइ' शब्द की तुक 'चाहइ' नहीं हो सकती, जो या तो पाठ व्यत्यय है या अन्य कोई दृष्टिप्रमाद अथवा मूलतः कवि ने ही ऐसा लिखा हो। डा० गुप्त के उक्त अर्थ में 'चाहइ' का अर्थ 'देखना' किया गया है, जो नहीं हो सकता और होना भी नहीं चाहिए। पर 'मलमलकर' का संबंध क्योंकि आँखों से ही ठीक बैठता है इसी लिये ऐसा कर दिया गया है। यदि [आँखों] की कल्पना की तरह हम भी कोष्टक में रखकर [हाथ] शब्द की कल्पना करें (डा० गुप्त की तरह), यद्यपि आँखों का अर्थ पंक्ति के निहालि (निहारने) में आ जाता है, तो अर्थ यों भी हो सकता है—'उसको लोग इतना चाहते हैं कि वे उसे देखकर हाथ मलने लगते हैं।' इसमें 'चाहइ' का अर्थ तो 'चाहना' ठीक हो गया पर 'मलमलकर' और 'आँखों' वाली बात का निर्वाह नहीं हो सका। 'आँखें मलमलकर चाहते हैं', यह अर्थ भी ठीक नहीं। हाँ, बोलचाल में आखें फाड़कर देखने' का प्रयोग मिलता है, पर यहाँ 'निहालि' (निहारने) की कोमलता के कारण यह भी ठीक नहीं जमता। तब कवि का पाठ 'चाहइ' न होकर देखहिं या देखइ होना चाहिए था, जो नहीं है। ऐसी स्थिति में पंक्ति का अर्थ 'उसको लोग आँखें मलमल कर देखते, और चाहते हैं। अथवा--'लोग आँखें मलकर उसे देखते हैं और इतना चाहते हैं कि उसे [वे] निहारते ही रहें।' भी कदाचित् ठीक हो सकता है।

पहली पंक्ति में 'प्रवेश करती हुई इस प्रकार की टक्किणी' अर्थ किया गया है जब कि इसका अर्थ यों भी हो सकता है—'[(भवन में) प्रवेश करती हुई यह ऐसे शोभा पा रही है जैसे कोई टक्किणी हो अर्थात् यह तो बिल्कुल वैसी ही लग रही है (जैसे) टक्किणी]।

११. राउलवेल, पंक्ति १३, पृ० ८३।
१२. वही, पृ० ३८, पंक्ति १३।

यह अर्थ नायिका के टकिणी (तैलंगाना प्रदेश की) होने में बाधा डालता है और यह ध्वनित करता है कि नायिका वहीं की (राजस्थान, मालवा या गुजरात की ही) थी। इस प्रकार हमारे मत से प्रस्तुत पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए--

लेखक का अर्थ--' (भवन में प्रवेश करते हुए वह (नायिका) ऐसे शोभा पा रही है, जैसे कोई टकिणी हो। उसको लोग आँखें मलमलकर देख रहे हैं और (इतना) चाहते हैं कि (वे) उसे निहारते ही रहें ' '(लोग उसे इतना चाहते हैं कि आँखें मलमल कर उसको निहारते ही रहते है)' इसी तरह रचना का एक दूसरा स्थल देखिए—

२. (१) अइसो उवेसु जो गउडिन्हु केरउ
छाडि सो वान त दिउ सवु तोरउ--पंक्ति २७ (डा० गुप्त का पाठ)

(२) अइसो उ वेसु जो गउडिन्हु करेउ
छाडि सो [वा] नत दिठ सवु तोरउ[33]--
(डा० ह० चु० भायाणी का पाठ)

उक्त पंक्तियों में डा० गुप्त और डा० भायाणी दोनों विद्वानों द्वारा संपादित पाठ हैं और इन दोनों पाठों के शब्द-विग्रह में पर्याप्त अंतर परिलक्षित होता है। डा० गुप्त ने 'अइसो उवेसु' पाठ देकर उसका अर्थ ही भिन्न प्रस्तुत किया है। यहाँ भी कवि के 'केरउ' और 'तोरउ' (तुकांत) पाठ में व्यत्यय लगता है। इसका अर्थ डा० गुप्त ने यों प्रस्तुत किया है--

डा० गुप्त का अर्थ-- गौड़ीयाओं का क्योंकि ऐसा उद्देश (नाम) है, तब (इसीलिये) उस वर्ण को छोड़कर दिष्ट (कथित) समस्त [वर्णों] को तोड़ डालिए '[34]

डा० गुप्त ने एक तो उक्त पंक्तियों के शब्दों का विग्रह ठीक नहीं किया है और जो कुछ भी किया है, उसका उक्त अर्थ करके पाठ की सरल अभिव्यक्ति को इतना क्लिष्ट कर दिया है कि वह साधारण पाठक को कठिनाई से ही समझ में आएगी। उनकी इस क्लिष्ट शैली और अभिव्यक्ति ने अर्थ की सुबोधता और सुग्राह्यता को अत्यंत बोझिल कर दिया है।

३३. भारतीय साहित्य, अक्टूबर १९६१, पृ० ११९, छंद ८२, पंक्ति २७ में डा० हरिवल्लभ चुनीलाल भायाणी का पाठ, लेखक डा० कैलाशचंद्र भाटिया।

३४. राउलवेल और उसकी भाषा, पृ० ६८।

इसके प्रतिकूल डा० भायाणी का शब्दान्वय तथा विग्रह इतना स्पष्ट है कि उसको पाठक बिना अर्थ पढ़े ही सरलता से हृदयंगम कर सकता है।

डा० गुप्त का यह क्लिष्ट अर्थ उनके पाठ के ऐसे शब्दान्वय के कारण ही है। डा० भायाणी के पाठ में उनसे पर्याप्त अंतर है—

१. अइसो उवेसु—(डा० गुप्त)
   अइसोउ वेसु—(डा० भायाणी)

२. केरउ—(डा० गुप्त)
   करेउ—(डा० भायाणी)

३. छाडि सो वान त—(डा० गुप्त)
   छाडि सो [वा] नत—(डा० भायाणी)

उक्त पंक्तियों में दोनों पाठों का अंतर स्पष्ट है।

अपने पाठ का इतना क्लिष्ट अर्थ न कर, यदि डा० गुप्त इसका सामान्य अर्थ करते तो हमारी दृष्टि में यों भी हो सकता था—

लेखक का अर्थ (डा० गुप्त के पाठ का)—

'ऐसा सुष्ठु वेष, जो गौडीयाओं का है, उनके सुंदर वर्ण को देखकर (तो) सब ओर से दृष्टि हटा ही ली जानी चाहिए।' तात्पर्य यह कि ऐसे सुंदर वेश एवं वर्ण वाली गौडीया नायिकाओं को देखकर कोई कहीं अन्यत्र भी देख सकता है? अर्थात् दृष्टिनिक्षेपण यदि हो तो केवल ऐसे सुंदर वर्णावली गौडीयाओं की ओर ही हो, तथा अन्यत्र से उसका वारण किया जाय।

डा० गुप्त का यह पाठ सहज स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता। उनके 'उवेस' पाठ का अर्थ तो एक क्लिष्ट कल्पना मात्र ही लगती है। प्रतिकूल इसके हमें डा० भायाणी का पाठ ही अधिक उचित एवं सार्थक भी लगता है। और उनके पाठ को देखकर हमारी, भिन्न भिन्न प्रदेश की नायिकाओंवाली, शंका और भी पुष्ट होने लगती है। हमारी दृष्टि से संभवतः डा० भायाणी के पाठ का अर्थ यों हो सकता है—

डा० भायाणी के पाठ के लिये लेखक का अर्थ—

'यदि ऐसा वेश गौडीया धारण करलें, तो व्यक्ति (बरबस), अन्यत्र सब ओर से अपनी दृष्टि हटाकर उनकी ओर ही नत हो जाय।'

डा० भायाणी को भी संभवतः हमारा यह अर्थ स्वीकार न हो, पर हमने यह अर्थ अपने अध्ययन के आधार पर ही किया है। उन्होंने इसका जो भी

अर्थ किया हो, पर हम यह कहना चाहेंगे कि उनका पाठ डा० गुप्त के पाठ से अधिक सुबोध एवं सुग्राह्य है।

इस प्रकार डा० भायाणी के पाठ के इस अर्थ से यह बात स्पष्ट ध्वनित होती है कि नायिका संभवतः गौडीया (गौड़ देश की) न रही हो। और इस नायिका के वेश को ही अन्य गौड़ीयों द्वारा धारण करने के लिये कहा गया हो। जो हो, उक्त दोनों पाठों के अर्थ हमने विद्वानों के समक्ष रख दिए हैं, वे इनसे जो भी निर्णय करें।

इसी तरह एक और स्थल, डा० गुप्त द्वारा उद्धृत, देखिए—'ज पुणु मालवी उवेसुहि आवंतु, में और डा० भायाणी के पाठ—ज पुणु मालवीउ वेसु हिआवंतु' दोनों में शब्दान्वय एवं पाठार्थ की दृष्टि से पर्याप्त अंतर है।

इसी तरह भिन्न भिन्न प्रदेशों के पुरुषों के संबंध में भी हमने अपने कथ्य 'राउलवेल या राजकुल विलास (?)' में प्रकाश डाला है और काव्य की २०वीं पंक्ति–कीस रे बंदिरा टाक तु [वो] लसि–उद्धृत की है तथा उसका अर्थ 'हे बंदी टक्क! (तेलंग) तू क्या बोलेगा ?' स्पष्ट किया है।

उक्त सभी उद्धरणों में हमने रचना में वर्णित इन भिन्न प्रदेशों के नायक-नायिकाओं के संबंध में हमारी अपनी शंकाओं को प्रस्तुत किया है और इसी लिये इनके प्रदेशों की स्थिति हमें थोड़ी संदिग्ध लगी। इस दौरान डा० गुप्त के पाठों की कुछ बानगी भी हमने पाठकों के समक्ष रख दी है। राउलवेल के पाठ में उनके द्वारा की गई अर्थसंबंधी इस तरह की कई विवादास्पद स्थितियाँ रचना के अनेक स्थलों के संबंध में हैं।

एक अंतिम बात और—जो विशुद्ध रूप से कृति 'राउलवेल' के रचनास्थान और रचनाकार रोड के संबंध में हैं, कहकर हम इस लेख को समाप्त करेंगे। इस कथ्य के निष्कर्ष पाठकों को महत्वपूर्ण लगेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

वस्तुतः राउलवेल के रचनास्थान और कवि रोड के संबंध में कृति के वर्ण्य विषय के आधार पर डा० गुप्त ने जो निर्णय किया है उससे यह स्पष्ट लगता है कि उसमें उनकी स्थिति जैसे सुदृढ़ न होकर कमजोर हो। उनके निर्णय की शिथिलता और उसके संबंध में किए हमारे इस निर्णय की पुष्टि, दोनों उन्हीं के द्वारा उद्धृत इस निम्नांकित उक्ति-उद्वेग में देखी जा सकती है। वे लिखते हैं—

'इस प्रसंग में यह भी दर्शनीय है कि रचयिता की असाधारण सहानुभूति ही नहीं, एक प्रकार से उसका पक्षपात भी मालवी नायिकाओं के साथ है जिनका नखशिख वह सबसे अधिक बढ़ाचढ़ाकर शिलाखंड की १८ पंक्तियों में करता है, जब कि शेष प्रदेशों की नायिकाओं के नखशिखों का औसत उसके तिहाई से भी कम केवल पाँच पंक्तियों में। हो सकता है कि इसलिये और भी यह काव्य धार में उत्कीर्ण कराकर किसी मंदिर में लगाया गया हो।'[३५]

डा० गुप्त के इस उद्धरण में रचयिता की 'असाधारण सहानुभूति', 'उसका पक्षपात' आदि शब्द ध्यान देने योग्य हैं। इन शब्दों से स्पष्ट होता है कि रचनाकार सबसे अधिक बल मालवी नायिकाओं के वर्णन पर ही देता है और शिलाखंड की १८ पंक्तियों में अनुपाततः सर्वाधिक, सबसे बढ़ाचढ़ाकर वर्णन भी मालवीयाओं का ही करता है और क्योंकि वह ऐसा करता है, (आवश्यकता से अधिक सहानुभूति उनके प्रति दर्शाता है) इसलिये और भी यह काव्य धार में उत्कीर्ण कराकर किसी मंदिर में लगाया गया होगा। संभावना पर आधारित अनुमान मात्र से किए गए डा० गुप्त के इस निर्णय से कुछ शंकाएँ यहाँ और भी उठ खड़ी होती हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. यदि कृति का मात्र उत्कीर्णन ही धार में हुआ, तो यह काव्य कहीं अन्यत्र लिखा गया होना चाहिए और डा० गुप्त के अनुसार इस रचना का मूलादर्श (आर्कीटाइप) दक्षिण कोसल में ही होना चाहिए और वह अद्यावधि यदि उपलब्ध नहीं हो पाया है तो या तो वह कालकवलित हो गया या उसकी शोध बाकी है। वस्तुतः दोनों ही बातें कहीं से भी पुष्ट नहीं होतीं।

२. दक्षिण कोसल की (उक्तिव्यक्तिप्रकरण को छोड़कर) किसी अन्य सामान्य स्तर की रचना (राउलवेल की समतावाली को तो जाने दीजिए), की चर्चा भी आज तक न तो सुनी और न कहीं पढ़ी गई।

३. दक्षिण कोसल से कोई अंतःसाक्ष्य या बहिःसाक्ष्य भी, कृतिकार रोड और और उसके कृतित्व पर आज तक कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। उसके समकालीन पूर्ववर्ती और परवर्ती कृतिकारों ने (यदि वे कुछ हों तो), कहीं भी रोड और राउलवेल का आंशिक जिक्र भी नहीं किया।

३५. राउलवेल और उसकी भाषा; पृ० ८४ ।

४. शिलालेख के मूलादर्श की या उसकी प्रतिलिपि की प्रतिलिपि की प्रतिलिपि तक की भी कोई सूचना, टिप्पणी या संकेतसूत्र आज तक हुए समस्त शोध-कार्य में कहीं भी नहीं मिलते।

५. इतिहासग्रंथों द्वारा भी इस कृति एवं कृतिकार के आश्रयदाता के संबंध में कोई भी संकेत नहीं मिल पाता जिससे उसे दक्षिण कोसल का मानें।

उक्त सभी बातें कृति के संबंध में हमारी पश्चिमी राजस्थान (मालवा) वाली धारणा की स्थापना के संबंध में भी कही जा सकती हैं। पर राउलवेल पर किए डा० गुप्त के दक्षिण कोसलवाले निर्णय से हमारा मालवासंबंधी निर्णय अधिक घनी है, ऐसा हमारा विश्वास है और उसका कारण यह है कि शिलाखंड का प्राप्तिस्थान अब तक तो धार (मालवा) ही रहा है और कालांतर में भी डा० गुप्त इसका स्थान परिवर्तित कर सकेंगे, इसमें हमें संदेह है। इसलिये हम इस शिलालेख को चाहे प्रतिलिपि मानें या स्वयं मूलादर्श, यह ध्रुवसत्य है कि इस शिलाकाव्य का प्राप्तिस्थान मालवा ही है। चाहे वह वहाँ मूलतः लिखा गया हो या खोदा गया हो। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि जब शिलालेख धार में मिला है तो कोई उसका मूलादर्श या प्रतिलिपि भी मालवा या राजस्थान में कहीं न कहीं अवश्य उपलब्ध होगी। डा० गुप्त ने इसके मूलादर्श के संबंध में किसी भी संभावना को लेकर अपना कोई भी विचार व्यक्त नहीं किया, क्योंकि वे यह जानते हैं कि कृति के मूलादर्श की आज या निकट भविष्य में कम से कम दक्षिण कोसल से मिलने की तो आंशिक आशा भी उन्हें नहीं है।

६. एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठता है कि यदि डा० गुप्त के कथनानुसार वह शिलालेख धार में उत्कीर्ण ही कराया गया है, क्योंकि इसमें मालवा की नायिकाओं का सबसे अधिक बढ़ाचढ़ा कर वर्णन किया गया है, तो कवि रोड का अपने वर्ण्य विषय और वर्णन के प्रति यह अनुचित पक्षपात क्यों? इससे स्पष्ट है कि कवि उन सभी नायिकाओं में केवल मालवीयाओं के सौंदर्य से ही अधिक प्रभावित है। अपने सामंत की अन्य नायिकाओं (विवाहिताओं) के नखशिखों के प्रति उसकी रुझान अत्यंत श्लथ है। दूसरी बात दक्षिण कोसल की किसी भी नायिका का उसने नखशिख नहीं लिखा। कृतिकार के आश्रयदाता ने, यह आश्चर्य है कि अपने छहों विवाह बाहर की सुंदरियों से ही किए और दक्षिण कोसल की किसी सुंदरी को अपनी पत्नी बनने का सौभाग्य प्रदान नहीं किया। क्या इन नायिकाओं में कोई भी उस प्रदेश की नायिका नहीं रही होगी

या कवि स्वयं ही अपने चिंतन और वर्णन में इतना अनुदार रहा कि अपने ही देश की नायिकाओं की ओर उसने आँख उठाकर नहीं देखा तथा अन्य अन्य प्रदेशों की नायिकाओं पर भी उसने थोड़ा सा लिखा एवं सामान्य वर्णन करके ही उनको चलता किया और मालवीयाओं पर जी भर कर लिखा। यही नहीं, मालवीयाओं की समता और क्षमता में उसने दक्षिण कोसल से इतर प्रदेशों की किसी भी नायिका के प्रति एकदम कम या आंशिक सहानुभूति ही दिखाई; पक्षपात की बात तो दूर।

उक्त विश्लेषण के आधार पर हम कुछ निर्णय कर सकते हैं—

१. शिलालेख का रचयिता मालवा (राजस्थान) का ही था।

२. उसने अपने प्रदेश की नायिकाओं का नखशिख पूर्ण संभार एवं सजधज के साथ लिखा। उसका पक्षपात एवं पूर्ण सहानुभूति उन्हीं नायिकाओं के साथ होना सहज एवं स्वाभाविक ही है। क्योंकि वे उसके प्रदेश की थीं और इसी लिये वह उनके वर्णन में आवश्यकता से अधिक उदार रहा।

३. यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि कोई कवि और कुछ भले न करे, वह अपने सर्जन में अपने उस प्रदेश की किसी न किसी प्रकार प्रशंसा करेगा ही। और यदि किन्हीं कारणों से वह अपने प्रदेश को नहीं चाहता, या उससे निकाल दिया गया या छोड़कर चला गया और किसी कारणवश उससे प्रसन्न नहीं है, तो भी वह (भले बहुत कृपणता से ही सही) उस देश के प्रति कुछ न कुछ तो अवश्य ही लिखेगा। कृति एवं कृतिकार पर यह देश काल का प्रभाव अत्यंत स्वाभाविक है। कवि रोड इतना अनुदार कभी न था कि वह अपने देश की नायिकाओं के सौंदर्य की दूसरे प्रदेशों की समता में हेठी होने दे और इसी लिये उसने उनका इतना विस्तार से वर्णन किया है। अब उससे आप यह आशा करें कि वह दक्षिण कोसल की किसी नायिका का भी उसी सज्जा से वर्णन करे, तो यह निश्चित रूप से असंभव है।

४. उसके नखशिख और वेशों में अधिकतर आभूषण और वस्त्र राजस्थान में आज भी पहने जाते हैं।

५. दूसरे प्रदेश की नायिकाओं को कदाचित्, उन्हें मालवीयाओं की क्षमता में अपेक्षाकृत हीन दिखाने के लिये ही, उनका सामान्य वर्णन मात्र करके उसने चलता कर दिया। इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

४. शिलालेख के मूलादर्श की या उसकी प्रतिलिपि की प्रतिलिपि की प्रतिलिपि तक की भी कोई सूचना, टिप्पणी या संकेतसूत्र आज तक हुए समस्त शोध-कार्य में कहीं भी नहीं मिलते।

५. इतिहासग्रंथों द्वारा भी इस कृति एवं कृतिकार के आश्रयदाता के संबंध में कोई भी संकेत नहीं मिल पाता जिससे उसे दक्षिण कोसल का मानें।

उक्त सभी बातें कृति के संबंध में हमारी पश्चिमी राजस्थान (मालवा) वाली धारणा की स्थापना के संबंध में भी कही जा सकती हैं। पर राउलवेल पर किए डा० गुप्त के दक्षिण कोसलवाले निर्णय से हमारा मालवासंबंधी निर्णय अधिक धनी है, ऐसा हमारा विश्वास है और उसका कारण यह है कि शिलाखंड का प्राप्तिस्थान अब तक तो धार (मालवा) ही रहा है और कालांतर में भी डा० गुप्त इसका स्थान परिवर्तित कर सकेंगे, इसमें हमें संदेह है। इसलिये हम इस शिलालेख को चाहे प्रतिलिपि मानें या स्वयं मूलादर्श, यह ध्रुवसत्य है कि इस शिलाकाव्य का प्राप्तिस्थान मालवा ही है। चाहे वह वहीं मूलतः लिखा गया हो या खोदा गया हो। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि जब शिलालेख धार में मिला है तो कोई उसका मूलादर्श या प्रतिलिपि भी मालवा या राजस्थान में कहीं न कहीं अवश्य उपलब्ध होगी। डा० गुप्त ने इसके मूलादर्श के संबंध में किसी भी संभावना को लेकर अपना कोई भी विचार व्यक्त नहीं किया, क्योंकि वे यह जानते हैं कि कृति के मूलादर्श की आज या निकट भविष्य में कम से कम दक्षिण कोसल से मिलने की तो आंशिक आशा भी उन्हें नहीं है।

६. एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठता है कि यदि डा० गुप्त के कथनानुसार वह शिलालेख धार में उत्कीर्ण ही कराया गया है, क्योंकि इसमें मालवा की नायिकाओं का सबसे अधिक बढ़ाचढ़ा कर वर्णन किया गया है, तो कवि रोड का अपने वर्ण्य विषय और वर्णन के प्रति यह अनुचित पक्षपात क्यों ? इससे स्पष्ट है कि कवि उन सभी नायिकाओं में केवल मालवीयाओं के सौंदर्य से ही अधिक प्रभावित है। अपने सामंत की अन्य नायिकाओं (विवाहिताओं) के नखशिखों के प्रति उसकी रुझान अत्यंत श्लथ है। दूसरी बात दक्षिण कोसल की किसी भी नायिका का उसने नखशिख नहीं लिखा। कृतिकार के आश्रयदाता ने, यह आश्चर्य है कि अपने छहों विवाह बाहर की सुंदरियों से ही किए और दक्षिण कोसल की किसी सुंदरी को अपनी पत्नी बनने का सौभाग्य प्रदान नहीं किया। क्या इन नायिकाओं में कोई भी उस प्रदेश की नायिका नहीं रही होगी

या कवि स्वयं ही अपने चिंतन और वर्णन में इतना अनुदार रहा कि अपने ही देश की नायिकाओं की ओर उसने आँख उठाकर नहीं देखा तथा अन्य अन्य प्रदेशों की नायिकाओं पर भी उसने थोड़ा सा लिखा एवं सामान्य वर्णन करके ही उनको चलता किया और मालवीयाओं पर जी भर कर लिखा। यही नहीं, मालवीयाओं की समता और क्षमता में उसने दक्षिण कोसल से इतर प्रदेशों की किसी भी नायिका के प्रति एकदम कम या आंशिक सहानुभूति ही दिखाई; पक्षपात की बात तो दूर।

उक्त विश्लेषण के आधार पर हम कुछ निर्णय कर सकते हैं—

१. शिलालेख का रचयिता मालवा (राजस्थान) का ही था।

२. उसने अपने प्रदेश की नायिकाओं का नखशिख पूर्ण संभार एवं सजधज के साथ लिखा। उसका पक्षपात एवं पूर्ण सहानुभूति उन्हीं नायिकाओं के साथ होना सहज एवं स्वाभाविक ही है। क्योंकि वे उसके प्रदेश की थीं और इसी लिये वह उनके वर्णन में आवश्यकता से अधिक उदार रहा।

३. यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि कोई कवि और कुछ भले न करे, वह अपने सर्जन में अपने उस प्रदेश की किसी न किसी प्रकार प्रशंसा करेगा ही। और यदि किन्हीं कारणों से वह अपने प्रदेश को नहीं चाहता, या उससे निकाल दिया गया या छोड़कर चला गया और किसी कारणवश उससे प्रसन्न नहीं है, तो भी वह (भले बहुत कृपणता से ही सही) उस देश के प्रति कुछ न कुछ तो अवश्य ही लिखेगा। कृति एवं कृतिकार पर यह देश काल का प्रभाव अत्यंत स्वाभाविक है। कवि रोड इतना अनुदार कभी न था कि वह अपने देश की नायिकाओं के सौंदर्य की दूसरे प्रदेशों की समता में हेठी होने दे और इसी लिये उसने उनका इतना विस्तार से वर्णन किया है। अब उससे आप यह आशा करें कि वह दक्षिण कोसल की किसी नायिका का भी उसी सज्जा से वर्णन करे, तो यह निश्चित रूप से असंभव है।

४. उसके नखशिख और वेशों में अधिकतर आभूषण और वस्त्र राजस्थान में आज भी पहने जाते हैं।

५. दूसरे प्रदेश की नायिकाओं को कदाचित्, उन्हें मालवीयाओं की क्षमता में अपेक्षाकृत हीन दिखाने के लिये ही, उनका सामान्य वर्णन मात्र करके उसने चलता कर दिया। इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

६. शिलालेख धार में उत्कीर्ण ही नहीं हुआ, यह मूलतः रचा भी वहीं गया।

७. यह असंभव नहीं कि सम्यक् शोध होने पर पश्चिमी राजस्थान, गुजरात, और मालवा के ज्ञानभंडारों से कवि रोड कृत राउलवेल का मूलादर्श या उसकी कोई प्रतिलिपि ही मिल जाय।

अस्तु, रचनाविषय और रचनास्थान दोनों के लिये हमारी उक्त स्थापनाएँ विद्वानों के समक्ष विनम्रता से प्रस्तुत हैं। कवि रोड और उसकी रचना का परिशीलन अब राजस्थान और मालवा के विद्वानों को करना चाहिए। अब तो 'मालवी भाषा का अध्ययन' ग्रंथ (डा० चिंतामणि उपाध्याय) भी उपलब्ध है। मैं राउल के विशिष्ट संदर्भ में डा० चिंतामणि उपाध्याय का ध्यान विनम्रता से इस ओर आकृष्ट करना चाहूँगा। साथ ही राजस्थान के सभी विद्वान् अध्येताओं से भी यह निवेदन करना चाहूँगा कि वे राउलवेल के अंतर्बाह्य साक्ष्यों, उसके भाषाजन्य तत्वों एवं राउलवेल के मूलादर्श को राजस्थान में खोजें तथा उसपर सम्यक् शोध करें।

वस्तुतः राउलवेल का रचयिता कवि रोड राजस्थान (मालवा) का ही था और कृति का रचनास्थान भी मालवा ही है। उसको दक्षिण कोसल की कहना राउलवेल के वर्ण्यविषय के साथ अन्याय करना है तथा यह केवल इस कृति के मूल्यांकन के लिये भी कोरी कल्पना मात्र है।

*

ब्रह्मवैवर्त की प्रतीकित राधा

[गोपालजी 'स्वर्णकिरण']

•

भारतीय साहित्य में राधा की कल्पना और प्रचलन कब से हुआ यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। राधा शब्द की व्युत्पत्ति—राध्नोति साधयति कार्याणीति राध्—अच्—टाप्[1] —अर्थात् कार्यों को साधनेवाली, पूर्ण करनेवाली शक्ति-विशेष, पर ध्यान देने से पता चलता है राधा की कल्पना अत्यंत प्राचीन काल के किसी अज्ञात कवि के मस्तिष्क की देन है, जो कवि के नाम को लुप्तकर, स्वयं अमर हो गई है। शील, शक्ति और सौंदर्य की देवी के रूप में राधा का वर्णन प्राचीनतम भारतीय साहित्य वेद में नहीं मिलता। वेद में 'राधा' शब्द का अर्थ है धन, अन्न और नक्षत्रविशेष (कृष्ण यजुर्वेद में राधा नहीं, विशाखा-अनुराधा का नाम; अथर्ववेद में 'राधो विशाखे' का प्रयोग—द्र० राधा का क्रम विकास, पृ० १०१ पर योगेशचंद्र का उद्धरण)। धर्म और नीति के विश्वकोष (इन्साइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एंड एथिक्स) में राधा शब्द पर अलग से विचार नहीं किया गया पर राधावल्लभीय संप्रदाय के वर्णन के क्रम में लिखा है कि राधा का नामोल्लेख ब्रह्मवैवर्त से पहले हरिवंश अथवा महाभारत के परिशिष्ट (विष्णुपर्व, अध्याय २०), विष्णु एवं भागवत पुराण में ही आता है। यों गोपी अथवा गोचारिका के रूप में राधा, गोप-गोपी और कृष्ण की लीला का पौराणिक उल्लेख अत्यंत प्राचीन है।[2] वस्तुतः हरिवंश में राधा का नामोल्लेख मात्र

१. हिंदी विश्वकोश, नगेंद्रनाथ वसु, भाग १९, कलकत्ता १९२९ ई०, पृ० ३७१।

२. राधा वाज वन आव् द गोपीज आर हर्ड - मेडेंस, हू आर सेलिब्रेटेड फ़ेज द कंपेनियन्स आव् कृष्ण ड्यूरिंग हिज यूथ स्पेंट इन वृंदावन। द क्वीन आफ हिज स्पोर्ट्स विद दीज हर्ड-मेडेंस इज फेवरवो ओल्ड। इट अपियर्स इन द हरिवंश आर सप्लिमेंट टु द महाभारत, एंड इन द विष्णु एंड भागवत पुराण बट इट इज नाट टिल वी गेट टु द ब्रह्मवैवर्त पुराण, ए लेट सेक्टेरियन वर्क, दैट वी फाइंड प्रामिनेंस गिवेन टु राधा एज द चीफर आव् द गोपीज एंड ऐज कृष्ण'ज बिलवेड मिस्ट्रेस—एनसा० आव् रेलिजन एंड एथिक्स, जेम्स हेस्टिंग्ज, भा० ३, पृ० ५५९-६०।

मिलता है, जहाँ गोपियों के साथ क्रीड़ा करते समय, दामोदर 'हा राधे, हा चंद्रमुखी' इत्यादि शब्दों से अपना विरह प्रकट करते हैं और व्रजांगनागण प्रहृष्ट होकर उनकी मुखनिस्सृतवाणी सुनती हैं। विष्णुपुराण (५।१३) में रास के प्रसंग में, विविध गोपियों के बीच, राधा का अनुमानमात्र होता है, और भागवत (१०।३०) में 'आराधिता' शब्द से 'राधिका' की कल्पना करते है।[३] महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर और उसी वर्ग के अन्य गायकों ने राधा का वर्णन नहीं किया।[४] भागवत महापुराण के आधार पर पहला संप्रदाय माध्व संप्रदाय है जिसमें द्वैतवाद के सिद्धांत पर कृष्णोपासना पर तो जोर दिया गया है पर राधा का उल्लेख नहीं है।[५] भासप्रणीत नाटकों में (अनुमित निर्माणकाल ईसा की दूसरी शताब्दी) भी राधा का नाम नहीं मिलता।

देशी भाषाओं में राधा का नाम ईस्वी प्रथम शताब्दी के लगभग राजा हाल की गाथा सप्तशती में अवश्य मिलता है। इसे राधा का प्रथम परिचय भी मान सकते हैं। यहाँ राधा अथवा राधिका के रूपसौंदर्य पर दृष्टि केंद्रित कर कवि कृष्ण से कहता है—हे कृष्ण, तुम अपने मुखमारुत द्वारा राधिका के चक्षु से धूलि अथवा गोधूलि हटाकर पुरोवर्तिनी अन्यान्य गोपीगण का गौरव हरण करते हो। यथा—

मुह मारुएणं तं कह्‌ण गोरअं रहिआएँ अवणेन्तो।
एताणँ वल्लवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि॥
[मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन्।
एतासां वल्लवीनाम यासामपि गौरवं हरसि॥][६]

३. अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः। यन्नो विहाय गोविंदः प्रीतो यामनयद्रहः॥ (भाग० १०।३०।२८) अर्थात् गोपियाँ कहती हैं कि अवश्य हो सर्वशक्तिमान भगवान श्री कृष्ण की यह आराधिका होगी। इसलिये इसपर प्रसन्न होकर हमारे प्राणप्यारे श्यामसुंदर ने हमें छोड़ दिया है और इसे एकांत में ले गए हैं।

४. द गाड इज विठ्ठल और विठोबा'''विठ्ठल हैज सेवेरल कंसार्ट्स इंस्टाल्ड निअर हिम. ईच इन ए सेपरेट श्राइन रुक्माबाई (रुक्मिणी), राधा, सत्यभामा एँड लक्ष्मी, बट इज नोटवर्दी दैट राधा टेक्स नो प्लेस इन मराठी लिटरेचर। —फर्कुहर : ऐन ओ० आर० एम०, पृ० ३०१।

५. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रा० कु० व०, पृ० २०१।

६. हिंदी गाथासप्तशती, चौ० वि० भ०, प्र० स०, पृ० ८१।

यहाँ राधा सामान्य स्त्री और कृष्ण सामान्य पुरुष के प्रतीकस्वरूप कहे जा सकते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है, राधा के प्रति जनजीवन में बँधी हुई यह धारणा ही क्रमिक रूप में विकसित हुई और दसवीं शताब्दी के लगभग ब्रह्मवैवर्तपुराण में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई। यों ईसा की आठवीं शताब्दी के पहले राधावाद के प्रचलन के प्रमाण में, पहाड़पुर के मंदिर की दीवार पर खड़ी युगलमूर्ति को उल्लेखनीय कहा जाता कहा है। कृष्ण की वृंदावनलीला के बहुतेरे दृश्यों के साथ यह युगलमूर्ति मिलती है। यहाँ पुरुष की मूर्ति तो कृष्ण की मूर्ति है, इस विषय में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं, लेकिन नारी मूर्ति राधा की है या रुक्मिणी की या सत्यभामा की, इसके बारे में कोई कोई संदेह भी करते हैं।[7] कवि भट्टनारायण कृत (कहते हैं, ये बंगाली थे) वेणीसंहार नाटक के नांदीश्लोक में कालिंदी के जल में रास के समय केलिकुपिता, अश्रुकलुषा राधिका और उनके प्रति किए गए कृष्ण के अनुनय का उल्लेख है।[8] भागवतपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण से पहले का है पर इसमें तो राधा का संकेतमात्र ही है, अधिक कुछ नहीं। ब्रह्मवैवर्त के पहले, नवीं शताब्दी (अनुमित) के ध्वन्यालोक में राधा के वियोगकातर सौंदर्य पर एक श्लोक इस प्रकार मिलता है—

तेषां गोपवधू - विलास - सुहृदां राधारहः साक्षिणां
क्षेमं भद्र! कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्प-कल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥[9]

अर्थात् द्वारकाप्रवासी श्रीकृष्ण व्रज से आए हुए किसी पथिक से पूछते हैं— हे भद्र! गोपियों के विलाससुहृद् और राधाजी के साथ की हुई रहस्यकेलि के साक्षी वे कालिंदीतट के लताकुंज कुशलतपूर्वक तो हैं? मगर वे कुशलपूर्वक

७. राधा का क्रमविकास, शशिभूषणदासगुप्त, पृ० ११८।

८. कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंस द्विषो राधिकाम्।
तत्पादप्रतिमानिवेशित पदस्योद्भूत रोमोद्गते
रक्षुण्णोऽनुनयं प्रसन्नदयिता दृष्टस्य पुष्णातु वः॥

९. हिंदी ध्वन्यालोक, चौ० वि० भ०, द्वि० सं०, द्वि० उ० १५०; बंगला संस्करण, सुबोधचंद्र सेनगुप्त, कलकत्ता, पृ० ७६।

क्या होंगे ? जब से मैं अलग हो गया हूँ तब से प्रेमशय्या की रचना तो होती नहीं, उनके हरे-भरे कोमलपत्र भी इसलिये तोड़े नहीं जाते होंगे। मैं समझ रहा हूँ, उन पल्लवों की नीलिमा जाती रही होगी—वे सूख जाते होंगे।

एक अज्ञात लेखक द्वारा लिखित राधाविरह का एक और पद ध्वन्यालोक में उद्धृत किया गया है। वह इस प्रकार है—

याते द्वारवतीं पुरीं मधुरिपौ तद्वस्त्र संव्यानया
कालिन्दी तटकुंजवंजुललतामालम्ब्य सोत्कंठया।
उद्गीतं गुरुबाष्प-गद्गद्-गलत्तार - स्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरुत्कंठमाकूजितम् ॥[१०]

अर्थात् मधुरिपु कृष्ण के द्वारका चले जाने के बाद उन्हीं कपड़ों को शरीर पर लपेट कालिंदी-तटकुंज की मंजुल लताओं से लिपटकर सोत्कंठा राधा ने रुँधे हुए गद्गद् कंठ से तारस्वर से जो गान गाया था उससे यमुना के जलचरगण ने भी उत्कंठित होकर, कूजन करना शुरू कर दिया था।

सन् ६१५ में लिखित नलचंपू में नलदमयंती के प्रसंग में रचे गए कई द्वयर्थक श्लोकों में कृष्ण और उनके जीवन के बारे में उल्लेख मिलता है। नलचंपू के एक श्लोक का अर्थ इस प्रकार लगाया जा सकता है—कला कौशल में चतुर राधा परमपुरुष मायामय केशिहंता के प्रति अनुरक्त हैं।[११] इसी समय के लगभग विभिन्न काव्यों के टीकाकार वल्लभदेव ने शिशुपालवध (४।३५) के एक श्लोक की टीका में लोचक (ओढ़नी या दुपट्टा के किस्म का शिरोवस्त्र) शब्द की व्याख्या करते हुए किसी प्राचीन ग्रंथ से राधाकृष्ण नामयुक्त एक श्लोक उद्धृत किया है। इस श्लोक में कृष्ण को न देखकर, राधा दुःख प्रकट करती है—'निश्चय ही आज किसी अभागिनी ने मेरे कृष्ण का हरण किया है।' राधा की बात सुनकर किसी सखी ने कहा—'राधा, तुम क्या मधुसूदन की बात कर रही हो ?' राधा ने बात को पलटते हुए कहा, नहीं, नहीं अपनी प्राणप्रिय ओढ़नी की बात कर रही थी।[१२] इसी काल के एक

१०. रा० क्र० वि०, पृ० ११४ परउद्धृत।

११. शिक्षितवैदग्ध्यकलाऽपराधारमिके परपुरुषे। मायाविनि कृतकेशिवधे रागं बध्नाति।

१२. डा० नरेंद्रनाथ लाहा लिखित 'प्राचीन ओ मध्य युगे भारतीय साहित्ये श्रीराधार उल्लेख' नामक निबंध, सुवर्णवणिक् समाचार, वर्ष ३४, अंक ६।

और चंपूलेखक सोमदेवसूरि ने यशस्तिलकचंपू में, अमृतमति नामक नारी द्वारा अपने आचरण के समर्थन में कहलाया है, 'राधा क्या नारायण के प्रति अनुरक्त नहीं थी ?'[१३]

भागवतपुराण के ही लगभग के कवींद्रवचनसमुच्चय में राधाकृष्ण-संबंधी कुछ-एक पद इस प्रकार मिलते हैं—

कोऽयं द्वारि हरिः प्रयाह्युपवनं शाखामृगेनात्र किं
कृष्णोऽहं दयिते बिभेमि सुतरां कृष्णः कथं वानरः।
मुग्धेऽहं मधुसूदनो व्रजलतां तामेव पुष्पासवा—
मित्थं निर्वचनी कृतोदयितया ह्रीणो हरिः पातु वः।[१४]

× × ×

मयान्विष्टो धूर्तः स सखि निखिलामेव रजनीम्।
इह स्यादत्र स्यादिति निपुणमन्यामभिसृतः।
न दृष्टो भाण्डीरे तटभुवि न गोवर्धन गिरे
न कालिन्द्याः (कूले) न च निचुलकुंजे मुररिपुः॥[१५] हरिभञ्जया, ३४

× × ×

(…) धेनु दुग्ध कलशामादाय गोप्यो गृहं
दुग्धे वष्कयिणी कुले पुनरियं राधाशनैर्यास्यति।

१३. वही, ३४१६।

१४. अर्थात् राधा कहती है—'द्वार पर कौन है ?' 'हरि' (= कृष्ण, बंदर); 'उपवन में जाओ, शाखामृग की यहाँ कौन-सी जरूरत है ?'; 'हे दयिते, मैं कृष्ण हूँ'; 'तब तो और भी डर लग रहा है' बंदर कैसे कृष्ण (काला) हो सकता है ?. 'हे मुग्धे, मैं मधुसूदन (मधुकर) हूँ', 'तो पुष्पलता के पास जाओ।' प्रिया के द्वारा इस प्रकार निर्वचनीकृत, लज्जित हरि हमारी रक्षा करें।

१५. कृष्ण को नहीं पाकर, निराश दूती राधा से कहती है—सखी, मैंने सारी रात उस धूर्त को ढूँढ़ा, यहाँ हो सकता है, वहाँ हो सकता है, इस तरह (खोजा), अवश्य ही उसने दूसरी गोपी के साथ अभिसार किया है। मुररिपु को मैंने वटवृक्ष के तले नहीं देखा। गोवर्धन गिरि के नीचे भी नहीं देखा, कालिंदी के कूल पर भी नहीं देखा, वेतसकुंज में भी नहीं देखा।

इत्यन्यव्यपदेश गुप्त-हृदयः कुर्वन् विविक्तं व्रजं
देवः कारणनंदसूनुरशिवं कृष्णः स मुष्णातु वः ॥[१६]

× × ×

ध्वस्तं केन विलेपनं कुचयुगे केनांजनं नेत्रयोः
रागः केन तवाधरे प्रमथितः केशेषु केनस्रजः।
तेना (शेषज) नौघ कल्मषमुषा नीलाब्जभासा सखिं
किं कृष्णेन न यामुनेन पयसा कृष्णानुरागस्तव ॥[१७] हरिभक्त्या, ५१२

× × ×

इन प्रकीर्ण पदों में राधा का प्रणयचपल रूप ही दृष्टिगोचर होता है।

राधा के नामकरण के संबंध में हिंदी विश्वकोशकार ने लिखा है कि राधा को रासमंडल में रासबिहारी कृष्ण के साथ रमण करने की तीव्र इच्छा थी और श्रीकृष्ण को रमणोत्सुक जान वे उनके पास दौड़ी थीं। इसी से वे राधा कहलाईं।[१८] दूसरी बात यह है कि राधा वराहकल्प में गोकुलनगर में वैश्यवर वृषभानु की कन्या के रूप में अवतरित हुईं। वृषभानुकांता कलावती ने वायुगर्भ धारण किया था और यथासमय उसके वायुप्रसव करने पर अयोनिभूत श्रीराधा उत्पन्न हुईं।[१९] राधातंत्र में लिखा है कि वृषभानु ने अपनी पत्नी कीर्तिदा के

१६. गाय के दूध का कलश लेकर गोपियो, घर जाओ, जो गाएँ अभी भी नहीं दुही गई हैं उनके दुहे जाने पर, यह राधा भी तुम लोगों के बाद जायगी। दूसरे अभिप्राय को गुप्त रखकर जो इस प्रकार से व्रज को निर्जन कर रहे हैं, वही नंदपुत्र के रूप में अवतीर्ण देव तुम्हारे सारे अमंगल को हरण करें।

१७. कोई सखी राधा से कह रही है 'कुचों के विलेपन को किसने पोंछ दिया है ? आँखों के अंजन को किसने पोंछ दिया है ? तुम्हारे अधरों के राग को किसने प्रमथित किया ? केश की मालाओं को किसने नष्ट किया ? सखि, यह अबोध जन-स्रोत के कल्मषनाशी नील पद्मभास के द्वारा हुआ है। (तो) कृष्ण के द्वारा हुआ ? 'नहीं, यमुना के जल से हुआ।' (समझ गई), कृष्ण के प्रति ही (काले के प्रति) तुम्हारा अनुराग है।

१८. हिं० विश्व कोश, वसु, पृ० ३७० ।

१९. वही, पृ० ३८१ ।

साथ मिलकर कन्या का नाम राधिका इसलिये रखा कि वह रक्त विद्युत्प्रभा धारण करती थी।[२०] वस्तुत: राधिका अथवा राधा के तीन नाम मिलते हैं— चंद्रावली, पद्मिनी तथा त्रिपुरा और इन तीनों में कोई विरोध नहीं है।[२१] विष्णुवल्लभा मृगनयना राधा ही महामाया जगद्धात्री, त्रिपुरा और परमेश्वरी हैं; पद्मगंधिनी ही उनकी दूती हैं, वे भी कृष्णभक्ता और कृष्णवल्लभा हैं। वृषभानु की दृढ़ भक्ति से आकृष्ट हो उन्होंने उसकी कन्या के रूप में जन्म लिया। वे ही निर्जन वनवेष्ठित यमुना के जल में पद्मखंड का आश्रय कर, महाकाली का महामंत्र जप रही हैं। उन्होंने ही फिर दूसरी राधा की सृष्टि की थी। वही दूसरी राधा वृषभानुगृहस्थिता चंद्रावली है। पूर्वोक्त राधिका में जो-जो गुण हैं पद्मिनीसृष्ट राधा में भी वे ही सब गुण हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण में राधा अथवा राधिका के सोलह नाम आए हैं—

राधा रासेश्वरी रासवासिनी रसिकेश्वरी।
कृष्णप्राणाधिका कृष्णप्रिया कृष्णस्वरूपिणी।
कृष्णवामांगसंभूता परमानंदरूपिणी।
कृष्णा वृंदावनी वृंदा वृंदावनविनोदिनी॥
चंद्रावती चंद्रकांता शतचंद्रनिभानना।
नामान्येतानि साराणि तेषामभ्यंतराणि च॥[२२]

अर्थात् राधा, रासेश्वरी, रासवासिनी, रसिकेश्वरी, कृष्णप्राणाधिका, कृष्ण प्रिया, कृष्णस्वरूपिणी, कृष्णवामागसंभूता, परमानंदस्वरूपिणी, कृष्णा, वृंदावनी, वृंदावनविनोदिनी, चंद्रावती, चंद्रकांता, एवं शतचंद्रनिभानना। ये सब नाम

२०. रक्त विद्युत्प्रभा देवी धत्ते यस्मात् शुचिस्मिते।
तस्मात्तु राधिका नाम्न सर्वलोकेषु गीयते॥
—राधातंत्र, ७म पटल।

२१. राधिका त्रिविधा प्रोक्ता चंद्रा तु पद्मिनी यथा।
न पश्येत् परमेशानि चंद्रसूर्यं शुचिस्मिते॥
मानवानां महेशानि वराकाणां हि का कथा।
आत्मनोपहृ कृत्वा पद्मिनी पद्ममाश्रिता॥
त्रिपुरायां महेशानि पद्मिनी अनुचारिणी॥
(वही, ८म पटल)।

२२. ब्र० वै०, ४। १७। २२०-२२।

राधा के 'प्रेयस' रूप से संबद्ध हैं। राधा के 'श्रेयस्' नामों की संख्या भी सोलह ही है और ब्रह्मवैवर्त में ही वर्णित है : दुर्गा, नारायणी, ईशाना, विष्णुमाया, शिवा, सद्बुद्धयधिष्ठातृ देवी, नित्या, सत्यस्वरूपाप्रकृति, भगवती, शर्वाणी, सर्वमंगला, अंबिका, वैष्णवी, गौरी, पार्वती और सनातनी। ब्रह्मवैवर्तकार महर्षि कृष्ण द्वैपायन के शब्दों में इनका वर्णन इस प्रकार है :

नारायण उवाच

अथ षोडशनाम्नाञ्च विष्णुर्वेदे चकारसः।
पुनः पृच्छसिज्ञात्वात्वं कथयामि यथागमम् ॥
दुर्गा दैत्ये महाविघ्ने भवबन्धे च कर्म्मणि।
शोके दुःखे च नरके यमदण्डे च जन्मनि ॥
महाभयेऽति रोगे चाप्या शब्दो हन्तृवाचकः।
एतान् हन्त्येव या देवी या दुर्गा परिकीर्त्तिता ॥
यशसा तेजसा रूपैर्नारायण समागुणैः।
शक्तिर्नारायणस्येयं तेन नारायणी स्मृता ॥[२३]

भगवती राधा के ये नाम उनकी शक्ति विशेष, प्रभाव विशेष एवं व्यापकत्व की सूचना देते हैं। ब्रह्म की अनुपम शक्ति के रूप में राधा यहाँ इंगित होती हैं। 'राधा' नाम का अर्थ और महत्व बतलाते हुए शास्त्र कहते हैं :

रेफोहि कोटि जन्माघं कर्मयोगं शुभाशुभम्।
आकाराद् गर्भवासं च मृत्युं च रोगमुत्सृजेत् ॥
धकार आयुषो हानिमाकारो भवबन्धनम्।
श्रवणस्मरणोक्तिभ्यः प्रणश्यन्ति न संशयः ॥[२४]

अर्थात् राधा नाम के पहले अक्षर 'र' का उच्चारण करते ही करोड़ों जन्मों के संचित पाप और शुभ अशुभ कर्मों के भोग नष्ट हो जाते हैं। आकार (ा) के उच्चारण से गर्भवास (जन्म), मृत्यु, रोग आदि छूट जाते हैं। 'ध' के उच्चारण से आयु की वृद्धि और आकार के उच्चारण से जीव भवबंधनमुक्त। इस प्रकार 'राधा' नाम के श्रवण, स्मरण और उच्चारण से कर्मयोग, गर्भवास, भवबंधनादि एक ही साथ नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण कहता है :

२३. ब्र० वै० २।५७।६-२८।

२४ कल्याण, ३६।१०, अगस्त० १९६२, पृ० १२३८।

'रा' शब्दोच्चारणाद्भक्तो याति मुक्तिं सुदुर्लभाम्।
'धा' शब्दोच्चारणात् दुर्गे धावत्येव हरेः पदम् ॥[२५]

अर्थात् 'राधा' के 'रा' शब्द के उच्चारण मात्र से भक्त दुर्लभ मुक्ति को प्राप्त करता है और 'धा' शब्द के उच्चारण मात्र से हरि श्रीकृष्ण के दुर्ग में दौड़कर पहुँच जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि भगवती राधा संपूर्ण मुक्तियों को देनेवाली है। वही महालक्ष्मी एवं गृहलक्ष्मी के रूप में सर्वत्र विराजमान हैं।

राधा साधारण मानवी नारी विशेष नहीं हैं अपितु एक सांस्कृतिक प्रतीक हैं, भगवान की अभिन्ना शक्ति हैं, प्रकृतिस्वरूपा हैं। प्रकृति का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है सृष्टिप्रक्रिया में प्रकर्ष रूप में विराजमान देवी (प्र-प्रकृष्ट का वाचक, प्रकृति सृष्टि का वाचक)। सृष्टि में जो कुछ शक्ति या विभूति का दर्शन हम करते हैं वह सब वस्तुतः सर्वव्यापी परब्रह्म की ह्लादिनी शक्ति का ही विलास है। ह्लादिनी शक्ति ही प्रकृति है। प्रकृति अनंत ब्रह्मांड की नायिका है। पार्वती, दुर्गा, लक्ष्मी और सरस्वती इसी नायिका प्रकृति के रूप हैं। राधा भी इसी का रूप है। पृथ्वी इसी स्त्रीमात्र की प्रतिनिधि है। जैसे पृथ्वी अपने प्राणश्वास से वायु के द्वारा तीन गुण है—सत्व, रजस् और तमस्; प्रकृति भी त्रिगुणात्मिका (प्र = प्रकृष्ट सत्त्व, कृ = रजस्; ति = तमस्) है। सत्व, रज और तम के योग से ही प्रकृति सृष्टि की क्रिया का विस्तार करती है। ब्रह्मवैवर्त के प्रकृतिचरितसूत्र (अध्याय १) में बतलाया गया, है कि स्त्री और पुरुष परस्पर पूरक हैं। सृष्टि के आरंभ में ब्रह्म अर्थात् विराट् ने योग से अपने शरीर को दो भागों में बाँट दिया—दक्षिण भाग पुरुष हो गया वाम भाग स्त्री। स्त्री और पुरुष, परमार्थतः अभिन्न हैं और संपूर्ण संसार ही ब्रह्ममय है। सृष्टि रचने की इच्छा करने पर, श्री कृष्ण के द्वारा ही प्रकृति, ईश्वरी उत्पन्न हुई। प्रकृति भगवान् की प्राणभूता शक्ति है, जड़ चेतन सब में अवस्थित। पदार्थों में या प्राणियों में जो कुछ सत्व है वह इसी की प्रतिच्छाया है। विभिन्न रूपों में यह अपने को अभिव्यक्त करती है। राधा इसी कारण भगवान की प्राणभूता शक्ति कहकर पुकारी जा सकती है।

राधा शब्द मंत्र का कार्य करता है। इससे सिद्धि की प्राप्ति अत्यंत शीघ्र हो जाती है। ब्रह्मवैवर्त (अध्याय ५५, प्रकृति खंड) में भगवान् शंकर ने पार्वती से इसका रहस्य बतलाया है। इस रहस्य में राधा के सांस्कृतिक प्रतीक का बोध होता है। कृष्ण और राधा के वार्तालाप के रूप में इसका वर्णन हुआ है।

२५. ब्र० वै० २।४८।४०।

पार्वती के पूछने पर भगवान् शंकर कहते हैं, राधा सांस्कृतिक शक्ति की परिसूचक है। कृष्ण ने राधा को संबोधित कर बतलाया है—

त्वां देवी जगतां माता विष्णुमाया सनातनी।
कृष्णप्राणाधिदेवी च कृष्णप्राणाधिका शुभा॥
कृष्णप्रेममयी शक्तिः कृष्णसौभाग्यरूपिणी।
कृष्णभक्तिप्रदे राधे नमस्ते मङ्गलप्रदे॥
अद्य मे सफलं जन्म जीवनं सार्थकं मम।
पूजितासि मया सा च या श्री कृष्णेन पूजिता॥
कृष्णवक्षसि या राधा सर्वसौभाग्यसंयुता।
रासे रासेश्वरी रूपा वृन्दा वृन्दावने वने॥
कृष्णप्रिया च गोलोके तुलसी कानने तु या।
चम्पावती कृष्णसंगे क्रीडा चम्पक कानने॥

× × ×

सावित्री वेदमाता च कलया ब्रह्मवक्षसि।
कलया धर्मपत्नी त्वं नर नारायण प्रसूः॥

× × ×

कला कलांश रूपा च शतरूपा शची दितिः।
अदितिर्देवमाता च त्वत् कलांशा हरिप्रिया॥
दिव्यश्च मुनि पत्न्यश्च त्वत् कला कलया शुभे।
कृष्णभक्तिं कृष्णदास्यं देहि मे कृष्णपूजिते॥[२९]

भगवती पार्वती के ही पूछने पर भगवान शंकर ने राधाकवच की महिमा बतलाई। यह कवच राधा की दिव्य सांस्कृतिक शक्ति को सूचित करता है। इस जगन्मंगल कवच के ऋषि प्रजापति हैं। रासेश्वरी स्वयं गायत्री देवी है, श्री कृष्णभक्ति संप्राप्ति का विनियोग है। अतएव इस कवच के माध्यम से सबसे उच्चपद सुलभता से प्राप्त हो जाता है। इस कवच (प्रकृतिखंड, अध्याय ५६) में राधा के लिये अनेक संबोधन आए हैं — यथा, रासेश्वरी, रासविला-

२९. ब्र० वै०, २।५५।४४-४७। यही राधास्तोत्र है। इसका प्रतिदिन पाठ करनेवाला पुत्रार्थी पुत्र पाता है और रोगी रोगमुक्त हो जाता है। कार्तिक की पूर्णिमा को राधा की पूजा कर पाठ करनेवाले को अचल लक्ष्मी और राज्यश्री मिलती है। सुननेवाली स्त्री स्वामी के सौभाग्य को पाती है। भक्तिपूर्वक पढ़ने से मोक्षप्राप्ति और गोलोक में परमपद की उपलब्धि हो सकती है।

सिनी, वृंदावनविलासिनी, तुलसीवनवासिनी, कृष्णप्राणाधिका, कृष्णप्रिया, गोपीशा, मूलप्रकृतिरीश्वरी, सर्वेश्वरी एवं महाविष्णुजननी। ये सब संमिलित होकर दिव्य फल की प्राप्ति करा देते हैं।

राधा के बिना भगवान् सृष्टि को आगे नहीं बढ़ा सकते। राधा प्रकृति की बीजस्वरूपा हैं। कृष्ण स्वरूप ब्रह्म प्रकृति स्वरूप राधा से ही आकार प्रदान करते हैं। ब्रह्मवैवर्त के प्रकृतिखंड (अध्याय २) में, नारद को संबोधित कर नारायण ने कहा है—

> बिना स्वर्णं स्वर्णकारः कुण्डलं कर्त्तुमक्षमः।
> बिना मृदा कुलालोहि घटं कर्त्तुं न हीश्वरः॥
> नहि क्षमस्तथा ब्रह्म सृष्टिं स्रष्टुं तया बिना।
> सर्वशक्तिस्वरूपा सा तया च शक्तिमान् सदा॥
> समृद्धि बुद्धि सम्पत्ति यशसां वचनो भगः।
> तेन शक्तिर्भगवती भगरूपा च सा सदा॥
> तया युक्तः सदात्मा च भगवांस्तेन कथ्यते।
> स च स्वेच्छामयः कृष्णः साकारश्च निराकृतिः॥[२७]

अर्थात् बिना स्वर्ण के स्वर्णकार जैसे कुंडल नहीं बना सकता तथा बिना मिट्टी के कुंभकार घड़ा नहीं बना सकता वैसे ही ब्रह्म राधास्वरूपा शक्ति के बिना सृष्टि की रचना नहीं कर सकते। ब्रह्म इसी शक्ति से युक्त होने पर शक्तिमान कहे जाते हैं। भगवती शक्ति ही भगरूपा है, ऐश्वर्यसंपन्ना है। इसी के परिणामस्वरूप भगवान कृष्ण निराकार को साकार करते हैं।

राधा का रूपलावण्य, उनकी भुवनमोहन सुंदरता घनीभूत सामाजिक सौंदर्य का प्रतीक है। राधा सौंदर्य की मूर्ति के रूप में एक आदर्श हैं। ब्रह्मवैवर्त्तकार महर्षि कृष्णद्वैपायन ने इनके षोडशवर्षीय रूप का वर्णन इस प्रकार किया है—

> देवी षोडशवर्षीया नवयौवन संयुता।
> वह्नि शुद्धांशुकाधाना सस्मिता सुमनोहरा॥
> सुकोमलाङ्गी ललिता सुन्दरीषु च सुन्दरी।
> बृहन्नितम्बभारार्त्ता पीनश्रोणी पयोधरा॥

२७. ब्र० वै० २।२।८-६ '११-१२।

बन्धु जीवजितारक सुन्दरोष्ठाधरा वरा।
मुक्ता पंक्तिजिता चारु दन्तपंक्ति मनोहरा॥
शरत्पार्वण कोटीन्दु शोभामृष्ट शुभानना।
चारु सीमन्तिनी चारु शरत्पङ्कजलोचना॥
खगेन्द्रचंचु विजित चारु नासा मनोहरा।
स्वर्णगेण्डूक विजिते गंडयुग्मे च बिभ्रती॥
दधती चारु कर्णे च रत्नाभरण भूषिते।
चन्दनागुरु कस्तूरी युक्त कुङ्कुमबिन्दुभिः॥
सिन्दूरबिन्दु संयुक्त सुकपोला मनोहरा।
सुसंस्कृतं केशपाशं मालतीमाल्यभूषितम्॥
सुगन्ध कवरी भारं सुन्दरं दधती सती।
स्थल पद्म प्रभामृष्टं पादयुग्मं च बिभ्रती॥
गमनं कुर्वती सा च हंसखञ्जनगञ्जनम्।
सद्रत्न सार निर्माण वनमालां मनोहराम्॥
हारं हीरक निर्माणं क्वणन्मञ्जीररञ्जितम्।
नाना प्रकार चित्राढ्यं सुन्दरं परिबिभ्रती॥[२८]

अर्थात् षोडशी राधा नवयौवन से विभूषित हैं। अधर पर मनोहर मंद हास्य है। शरीर अत्यंत कोमल है, ललित है। सुंदरियों में सुंदरी हैं। बृहत् नितंबों से भारार्त हैं, कटि अत्यंत क्षीण, स्तन मनोहारी हैं। सुंदर श्रेष्ठ बंधूकपुष्प की लालिमा को पराजित कर रहा है। दंतपंक्ति मोती की पाँति को हरा रही है। शरत्कालीन करोड़ों चंद्रमा के समान सुंदर मुख है, सुंदर सीमंतिनी हैं। शरत्कालीन कमल के समान नेत्रवाली हैं। खगेंद्र की चोंच की तरह मनोहर नासिका है। स्वर्णगेण्डूक की तरह सुंदर कपोलयुग्म हैं। कान में सुंदर रत्नभूषण हैं। चंदन, अगुरु से युक्त ललाट पर कुंकुम का टीका है। कपोल सिंदूर की लालिमा लिए हुए हैं। केशपाश सुसंस्कृत है। वक्षस्थल पर मालती की माला है। गति हंस और खंजन की गति को परास्त कर रही है। चरणकमल स्थलपद्म की प्रभा के समान आकर्षक हैं। वनमाला सुन्दर रत्नों से निर्मित है। हीरे का बना हुआ हार है। नूपुर की ध्वनि अत्यंत मनोहर है। कहने का तात्पर्य यह है कि कुल मिलाकर राधा के रूपदर्शन से अप्रभावित रह जाना असंभव है।

२८. वही, ४।४।२८-३८।

राधा भगवान कृष्ण की संधिनी, संवित् और ह्लादिनी नामक अंतरंग शक्तियों में ह्लादिनी शक्ति हैं, एक आदर्श हैं। सामाजिक प्रतीक के रूप में इन्हें देखा जा सकता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (श्रीकृष्णजन्म खंड, अध्याय १५) बतलाता है कि इनका विवाह श्रीकृष्ण के साथ वेदमंत्रोच्चारणपूर्वक हुआ, पर इनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण साधारण प्राणनाथ (स्वामी) नहीं कहे जा सकते। इन्होंने इन्हें जन्मजन्मों के प्राणनाथ होने को कहा है और चरणकमल में सुदुर्लभ भक्ति की याचना की है—

त्वत् पादाब्जे मन्मनोऽलिः सततं भ्रमतु प्रभो!
पातु भक्तिरसं पद्मे मधुपश्च यथामधु ॥
मदीय प्राणनाथस्त्वं भवजन्मनि जन्मनि।
त्वदीय चरणाम्भोजे देहि भक्तिं सुदुर्लभाम् ॥
तव स्मृतौ गुणे चित्तं स्वप्ने ज्ञाने दिवा निशम्।
भवेन्निमग्नं सततमेतन्मम मनीषितम् ॥[२९]

श्रीकृष्ण ने राधा को सृष्टि का आधारभूत, शोभास्वरूप, श्री, संपत्ति, आधारस्वरूपिणी, सर्वशक्ति स्वरूप, तेजःरूप, अशरीरिणी, शक्तिस्वरूपिणी सर्वस्त्रीरूप, अंगांश स्वरूप, मूलप्रकृतिरीश्वरी आदि कहा है और बतलाया है कि जैसे पृथ्वी में गंध है वैसे ही राधा में श्रीकृष्ण का निवास है। नारद के पूछने पर नारायण ने यह स्पष्ट बतलाया है—

रा शब्दोच्चारणादेव स्फीतो भवति माधवः।
धा शब्दोच्चारणात् पश्चाद्धावत्येव ससम्भ्रमः ॥
आदौ पुरुषमुच्चार्य पश्चात्प्रकृतिमुच्चरेत्।
स भवेन्मातृघाती च वेदातिक्रमणे मुने ॥[३०]

अर्थात् 'रा' शब्द के उच्चारण से माधव कृष्ण स्फीत हो जाते हैं, पुलकित हो जाते हैं और 'धा' शब्द के उच्चारण मात्र से वे संभ्रमित होकर दौड़ पड़ते हैं। पहले पुरुष (कृष्ण) और पीछे प्रकृति (राधा) का उच्चारण करनेवाला मातृहंता होता है, वेद का अतिक्रमण करनेवाला होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्री पुरुष भाव होने पर भी राधा असीम शक्ति संपन्ना है, सृष्टि का बीज है।

२९. ब्र० वै० ४।२७।२१०–२२।
३०. वही, ४।५२।३८–३९।

राधा के प्रति श्रीकृष्ण का प्रेम वासनामूलक नहीं, सात्विक एवं आदर्श है। श्रीकृष्ण के साथ राधा का निरंतर रास, राधा के सात्विक एवं आदर्श प्रेम की सूचना देता है। राधा रास की अधिष्ठात्री देवी हैं, ये प्रत्येक क्षण रास रचाने में समर्थ हैं। ये कभी थकती नहीं। श्री कृष्ण रास में थककर क्षणमात्र के लिये विराम की प्रार्थना कर सकते हैं, पर ये नहीं। ये श्रीकृष्ण की शाश्वतमानस हैं, संसार की वासना हैं। इनसे बढ़कर श्रीकृष्ण को कुछ प्रिय नहीं, ये शंकर से भी प्रियतर हैं। यथा—

> रासाधिष्ठातृदेवि त्वं रासं रासे कुरु क्षणम्।
> ग्रामे ग्रामे यथा सन्ति सर्वत्र ग्रामदेवताः॥
> विरामं देहि मे प्रीत्या क्षणं मां प्राणवल्लभे।
> प्राणाधिष्ठातृ देवि त्वं प्राणाश्च त्वयि सन्ति मे॥
> प्राणी विहाय प्राणांश्च कुत्र स्थातुं क्षमः प्रिये॥
> त्वयि मे मानसं शाश्वत्त्वं मे संसार वासना।
> त्वत्तो मम प्रियानास्ति त्वमेव शङ्करात् प्रिया॥[३१]

राधा दुःस्वप्न से जब सिहर जातीं तो कृष्ण से इसे निस्संकोच कहती हैं और कृष्ण आध्यात्मिक उपदेश से इनका प्रबोधन करते हैं—'आध्यात्मिकेन योगेन बोधयामास तत्क्षणम्' (ब्र० वै० ४।६६।२४)। रास के बीच वस्तुतः कृष्ण से राधा का वियोग सुदामा के शाप से होता है। ऐसे अवसर पर भी श्रीकृष्ण के प्रति राधा का प्रेम देखते बनता है। राधा कृष्ण के वियोग में मूर्छित हो जाती हैं। यह देख, चेतना कराकर उद्धव (श्री कृष्ण के सखा) कहते हैं, हे जगन्मातः जागो, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आपके चरणकमल की रज से विश्व पवित्र होता है सब आपको ही भजते हैं पर राधा श्री कृष्ण के बिना रहना नहीं चाहती। माधवी, मालती, पद्मावती आदि सखियाँ धिक्कारती हैं, श्री कृष्ण को कलंकित करती हैं पर राधा का श्री कृष्ण के प्रति दृढ़ प्रेम दृढ़तर बना रहता है। माधवी कहती है, कल्याणी, चोर कृष्ण का रूप अथवा वेश कौन उत्तम है? नंदनंदन गोपाल की याद को छोड़कर अपनी आत्मा को बचाओ, अपनी आत्मा से बढ़कर कौन प्रिय है?[३२] पर राधा कुछ ध्यान नहीं देतीं। राधा को संबोधित कर कहती है,

३१. ब्र० वै० ४।६८।४७६-८।

३२. किं वा चोरस्य कृष्णस्य रूपं वा वेशमुत्तमम्।
त्वं किं स्मरसि कल्याणि गोपालं नन्दनन्दनम्।
आत्मानं रक्ष यत्नेन कः प्रियः स्वात्मनः परा। ब्र० वै०, ४।४४।६, १२।

तुम्हें धिक्कार है, तुम निर्लज्ज हो, तुम्हारा जीवन बेकार है। कौन किसका वल्लभ है, कौन किसकी प्रिया है ? कार्य और समय को ही जानकर संत लोग सदैव संत हैं।[३३] किंतु राधा विचलित नहीं होती। पद्मावती कहती है, अरसिक की नारियों को सुख का अनुभव नहीं होता है, यदि तुम प्राणों को त्याग दोगी तब श्रीकृष्ण के दर्शन नहीं होंगे।[34] पर राधा इसे सुनकर भी नहीं सुनती। चंद्रमुखी, शशिकला, सुशीला, रत्नमाला, पारिजाता सब सखियाँ हार जाती हैं, यहाँतक कि उद्धव इनकी बात सुनकर मूर्छित हो जाते हैं पर राधा श्रीकृष्ण को छोड़ नहीं सकतीं। वे उद्धव से कहती हैं—हे वत्स! मथुरा में श्रीकृष्ण के प्रति मेरे संपूर्ण वचनों को कहकर श्रीकृष्ण को यहाँ ले आओ—

स्मरामि मनसा शश्वन्नान्यो मनसि वर्त्तते।
रात्रौनिद्रां परित्यज्य स्मरणं शोकवर्धनम्॥
मामुद्धर ध्रुवं वत्स निमग्नां शोकसागरे।
जीवाभय प्रदानेन तीर्थे स्नानफलं नृणाम्॥
प्रबोधितुं न शक्नोमि दुर्निवारञ्च मानसम्।
चिन्तये चरणाम्भोजं कृष्णस्य परमात्मनः॥
मत्परा दुःखिनी नास्ति कामिनीषु जगत्त्रये॥[३५]

अर्थात् मैं मन से श्रीकृष्ण का सदैव स्मरण करती हूँ, मेरे मन में दूसरा कोई निवसित नहीं। रात्रि में निद्रा भंग होने पर, उन्हीं का स्मरण करती हूँ जिनसे शोक निवर्धित हो रहा है। मैं शोकसागर में डूब रही हूँ, ओ वत्स, मेरा उद्धार करो। जीव को अभयदान देने से मनुष्यों को तीर्थस्नान का फल प्राप्त होता है। मैं अधिक कुछ कहने में समर्थ नहीं, मेरा मन दुर्निवार हो गया है। परमात्मा कृष्ण के चरणकमल का ही चिंतन करती हूँ। मुझसे बढ़कर तीनों लोकों में कोई दुःखिनी नहीं मिलेगी। राधा के इस कथन में राधा का श्रीकृष्ण के प्रति घनिष्ठ

३३. धिक् त्वां राधेति निर्लज्जां तवैव जीवनं वृथा···
कः कस्य वल्लभो राधे कः कस्याप्रिय एव च।
कार्य्यञ्च समयं ज्ञात्वा सन्तः कुर्वन्ति सन्ततम्॥
—ब्र० वै०, ४।९४।१३, १७॥

३४. भवता कथितं पूर्वं यमुना जल सन्निधौ।
अरसस्य रतिर्दूरं नारीणां न सुखं प्रिये॥ —वही, ४।९४।२१॥

३५, वही, ४।९५। ८—१०, १२॥

प्रेम ही अभिव्यंजित है। इस क्रम को उद्धव का ज्ञानोपदेश राधा को रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ और उद्धव को यह कहना पड़ा कि 'नहि राधापरा भक्ता न भूता न भविष्यति (ब्र० वै० ४।९७।१०) अर्थात् राधा से बढ़कर न तो कोई भक्त हुआ और न होगा।

राधा का प्रणयजन्यकोप, ईर्ष्या, कलह आदि राधा को कुछ समय के लिये मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करता है। राधा श्रीदामा के बीच कलह क्यों हुआ, राधा विरजा नामक गोपी के रूपलावण्य एवं सौभाग्य के प्रति ईर्ष्यालु क्यों हुई, श्रीदामा को शाप क्यों दिया, यह विचार योग्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि पारिवारिक आदर्श के लिये ये घटनाएँ परिकल्पित कर ली गईं। भगवान् ने नारद से इस बात का स्पष्टीकरण ब्रह्मवैवर्त (भाग २, खंड २, अध्याय २) में ही इस प्रकार किया है—एक समय गोलोक में भगवान् हरि राधा के साथ रासमंडल में विहारकर, उसको अतृप्त ही छोड़कर अन्यत्र, विरजा नामक गोपी के यहाँ शृंगारार्थ चले गए। वृंदारण्य में विरजा नामक गोपीरूपलावण्य में राधा से भी बढ़ीचढ़ी प्रतीत होती थी। उस विरजा नामक गोपी के साथ भगवान् कृष्ण लीला कर रहे हैं, ऐसा सखियों ने आकर राधा से कहा। राधा त्रिषष्टिशतकोटि गोपियों के साथ कृष्ण को देखने के लिये पहुँची। वहाँ लक्ष गोपों से परिवृत द्वारपाल श्रीदामा दिखलाई पड़ा। भगवती राधिका श्रीदामा को देखते ही क्रोधित हो गईं, क्योंकि श्रीदामा ने राधा को रोकने की चेष्टा की राधिका बोलीं—लंपट, दूर हटो—'रे रे जाल्म महामूढ़ शृणु लम्पट किङ्कर। त्वञ्च जानासि सर्वार्थं न जानामि त्वदीश्वरम् (ब्र० वै० ०।३।९६)। मार्ग में व्यवधान देखकर क्रोधित हो जाना मानवीय दुर्बलता का परिद्योतक है। कहते हैं, भगवान् राधा को इस रूप में देखकर अंतर्धान हो गए विरजा ने भी भगवान् को अलक्षित देख, राधा के भय से आर्त हो, योग से प्राणों को त्याग दिया तथा तत्काल नदीरूपा हो गई।

श्रीदामा ने राधा को समझाया और बतलाया, राधा को सँभलकर बोलना चाहिए तथा भगवान के चरणकमल का ध्यान—रोष तजकर करना चाहिए—'क्षिप्रं रोषं परित्यज्य भज पादाम्बुजं हरे (ब्र० वै० ४।३।९०)। राधा ने श्रीदामा को शाप दिया और श्रीदामा शंखचूड़ नामक राक्षस हो गया तथा श्रीदामा ने राधा को शाप दिया और राधा ने मानवीय योनि में ब्रज में ब्रजांगना के रूप में जन्म लिया। श्रीकृष्ण ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है तथा बिछुड़ने से भयभीत राधा को समझाते हुए कहा है—

सर्वं गोलोक वृत्तान्तं सुदाम्नः शापमेव च।
शापात् किञ्चिद्दिनं हीने त्वद्विच्छेदो मया सह॥
भविष्यति महाभागे मेलनं पुनरावयोः॥[३६]

अर्थात् श्रीदामा के शाप से ही कुछ दिनों के लिये मुझसे विच्छेद होगा, बिछुड़न होगा। पर मिलन भी हम दोनों का होगा ही अतएव तुम्हें भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। वास्तव में, मिलन और बिछुड़न, बिछुड़न और मिलन, यही दांपत्यादर्श है।

राधा का मानवीय रूप वहाँ भी दृष्टिगोचर होता है जहाँ राधा, यशोदा से कहती हैं—हे यशोदे, श्रीकृष्ण ने ज्ञानात्मक प्रकाश तुमको नहीं दिया और मेरे पास (उद्धव के माध्यम से) भेजा है। उसकी वार्त्ता तो वेद और संत भी नहीं जान सकते। मैं अज्ञानयुक्त अबला क्या बोध करूँ (ब्र० वै०, श्रीकृष्णजन्म खंड, अध्याय ११)। तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही मैं कहती हूँ कि 'रा' शब्द विश्व का वाचक है, 'म' शब्द ईश्वर का वाचक। संपूर्ण संसार का ईश्वर होने से परमेश्वर को 'राम' कहा गया है। विष्णु सहस्रनाम स्मरण से जो फल मिलता है वही फल 'राम' शब्द के उच्चारण से मिलता है। तुम निश्चल भक्ति एवं दासत्व का वर माँगती हुई 'राधा' शब्द की व्युत्पत्ति पूछती हो, इसलिये मैं कहती हूँ—'रा' शब्द महाविष्णु है जिसके रोम रोम में विश्व विराजमान है। 'धा' शब्द धारण करनेवाली का बोधक है। संपूर्ण संसार को धारण करनेवाली शक्ति को ही 'राधा' कहा गया है। मुझे सुदामा के शाप से श्रीकृष्ण से सौ वर्ष का विरह हुआ है। तुम अपने स्वामी के साथ व्रज में जाओ। मेरा भगवत्ध्यान करने का समय हो गया है। ध्यान भंग होने से महादोष होता है।

राशब्दश्च महाविष्णुर्विश्वानि यस्य लोमसु।
विश्वप्राणिषु विश्वेष धा धात्री मातृवाचकः॥
धात्री माताहमेतेषां मूलप्रकृतिरीश्वरी।
तेन राधा समाख्याता हरिणा च पुरा बुधैः॥
अहं सुदामशापेन वृषभानुसुताधुना।
शतवर्षश्च विच्छेदो हरिणा सह साम्प्रतम्॥
...ध्यानभङ्गे महादोषो नराणामपि सुन्दरि॥[३७]

३६. ब्र० वै० ४।६।७।४१।

३७. ब्र० वै० ४।१११।५७–६०।

मिलन के लिये राधा का पार्वतीपूजन भी राधा को आदर्श मानवी के रूप में प्रतिष्ठित करता है। राधा के पूजन को देखकर, गणेश ने तो यह ठीक ही कहा है—हे माता! तुम्हारी की हुई पूजा लोकशिक्षा के लिये है। सृष्टि में संपूर्ण विभूतियाँ तुम्हारी ही हैं। आदि में राधा शब्द का उच्चारण और पीछे कृष्ण का उच्चारण करनेवाला मनुष्य योगी लोक में जाता है।

तव पूजा जगन्मातर्लोक शिक्षाकरो शुभे।
ब्रह्मरूपा भगवती कृष्ण वक्षःस्थल स्थिता॥
...आदौ राधां समुच्चार्य पश्चात् कृष्णं परात्परम्।
स एव पण्डितो योगी गोलोकं याति लीलया॥[३८]

गणेश के प्रीत्यर्थ राधा जो ब्राह्मण भोजन कराती हैं, यह भी राधा के लोकादर्श का ही सूचक है। राधा 'अन्नदानं महादानम्' की समर्थिका हैं।

राधा के व्यक्तित्व का निर्माण वस्तुतः आदर्श के तंतुओं से हुआ है चाहे वह आदर्श लोकोन्मुखी हो, चाहे लोकोत्तर। राधा सच्चिदानंद की अनुपम शक्ति हैं; आदर्श प्रेमिका, आदर्श गुणवती, आदर्श मानवी हैं; पर वस्तुतः राधा का यही परिचय नहीं है। राधा साक्षात् भगवती हैं और भगवान् कृष्ण की अभिन्न शक्ति हैं। पार्वती का यह कहना बिल्कुल ठीक प्रतीत होता है कि राधा और माधव में कुछ भी भेद नहीं है। राधा और माधव में भेदभाव जो नराधम करते हैं उनके वंश की हानि होती है और वे चिरकाल तक नरक का सेवन करते हैं—'राधामाधवयोर्भेदं ये कुर्वन्ति नराधमाः। वंशहानिर्भवेत्तेषां पच्यन्ते नरके चिरम् (ब्र० वै० ४।१२७।४५)। श्रीकृष्ण ने राधा को संबोधित कर स्वयं भी कहा है:

जात्याहं जगतां स्वामी किं रुक्मिण्यादि योषितम्।
कार्यकारण रूपोऽहं व्यक्तो राधे पृथक् पृथक्॥
एकात्माहञ्च विश्वेषां जात्या ज्योतिर्मयः स्वयम्।
सर्वप्राणिषु व्यक्त्या चाव्याब्रह्मादि तृणादिषु॥[३९]

अर्थात् मैं संसार का कुलीन स्वामी हूँ पर क्या रुक्मिणी आदि स्त्रियों के साथ रहने के कारण? नहीं, 'राधा' शब्द का ही पृथक् पृथक् व्यक्त कार्यकारण रूप हूँ (राधा का 'रा' महाविष्णु—'धा'—धारण करनेवाली, शक्ति (कारण) के साथ संपन्न रहने के कार्यस्वरूप) तृण से लेकर ब्रह्मपर्यंत सभी प्राणियों में—

३८. वही, ४।१२२।३, ६–१०।
३९. ब्र० वै० ४।१२४।८२–८३।

तुम्हारे (कुलीन ज्योति शक्ति के) साथ स्वयं मैं (एकात्मरूप) ही विश्व में व्याप्त हूँ। और ऐसा समझनेवाला बिल्कुल मूर्ख भी शीघ्र पंडित हो जाता है।

राधा परमप्रेमरूपिणी हैं। ये सर्व त्यागमयी और नित्य कृष्णस्वरूपा, कृष्णात्मस्वरूपा और कृष्ण चित्ताकर्षिणी हैं। इतना होते हुए भी इनकी सहज स्वभावचेष्टा नित्य निरंतर कृष्णसुख के लिये हुआ करती है। ये दिन रात समुद्र को आत्मदान देती रहनेवाली सुरसरि के सदृश अनादिकाल से अनंतकाल तक प्रियतम को सुख देती ही रहती हैं। यों उनकी नित्य सर्वसुखदायिनी होने पर भी ये यही अनुभव करती हैं कि मैं सदा सर्वदा प्रियतम कृष्ण से लेती ही रहती हूँ। इस दिव्य त्यागमय परमप्रेम में तीन बातें अनिवार्य होती हैं और ये तीनों ही परमप्रेम के परमोच्च स्तर में परिणत महाभाव में सहज समुदित दैन्य के दर्शन कराती हैं—(१) निरंतर देते रहने पर भी अपने लिये निरंतर लेते रहने का अनुभव करना। (२) देने योग्य वस्तुमात्र का अपने में सदा ही अभाव देखना तथा (३) सेवा करने की किंचित् भी योग्यता का अपने में न देखना और सदा ही संकुचित मन से प्रत्येक सेवा में सेव्य प्रियतम कृष्ण के ही असाधारण सौशील्य, औदार्य एवं स्नेह परवशता के दर्शन करते हुए सर्वसमर्पण हो जाने पर भी सदा समर्पण करते ही रहना।[४०] ये तीनों बातें राधा के व्यक्तित्व में दिखाई पड़ती हैं और इनके पूर्णरूप से प्रकट रहने पर भी इनकी अधिकता, उज्ज्वलता, पवित्रता, सुगंध और सरसता सदा सर्वदा उत्तरोत्तर असीम की ओर बढ़ती जाती है। कायव्यूहरूपा गोपांगनाओं के साथ राधा का महाभाव रूपी यह दैन्यभाव नित्य नवीन सरसता, नित्य नवीन लावण्य, नित्य नवीन मधुरता, नित्य नव समर्पणरूपता और नित्य नव प्रियतम सुखेच्छा के रूप में बढ़ता चला जाता है। वस्तुतः इस परमप्रेम में प्रियतम कृष्ण के सुख की सहज स्पृहा और स्वसुख वासना के परित्याग की स्थिति स्वाभाविक हो जाती है और उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। अतएव किसी भी विचार में, चेष्टा में, क्रिया में भोग एवं मोक्ष की इच्छा के उदय का सर्वथा अभाव रहता है। राधा के भोग एवं मोक्ष की इस अनिच्छा में, उनका आदर्श रूप ही प्रतिभासित होता है। स्वसुख की अपेक्षा कृष्णसुख पर अधिक ध्यान देना, प्रेम के चरम रूप, परम प्रेम को परिसूचित करता है।

राधा का विरहदग्ध हृदय, प्रणयचपल रूप ब्रह्मवैवर्त में आकर, बहुत सीमा तक प्राय: संयत हो जाता है। राधा, ब्रह्मवैवर्त में सांस्कृतिक शक्ति के

४०. कल्याण, १६।१०, श्री राधा नाम रूप महिमा और राधा का प्रेम का स्वरूप नामक प्रवचन।

प्रतीक ब्रह्मस्वरूप कृष्ण की प्रकृतिरूपा अनुपम शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इनका परकीयत्व स्वकीयत्व बन गया है। सौंदर्य की मूर्ति के रूप में ये अविस्मरणीय हैं। दूसरे शब्दों में, राधा 'सुंदरं' की प्रतीक हैं—सामाजिक सौंदर्य का घनीभूत रूप हैं। सामाजिक संस्कारों से इनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है, अतएव, सामाजिक आदर्शों का संमिलित रूप इनमें प्रतिबिंबित दिखाई पड़ता है—प्रणय, कोप, ईर्ष्या, कलह, दुःख सब कुछ। कदाचित् इनके बिना जीवन की पूर्णता असंभव है। जीवन के आस्वादन के लिये इनकी अनिवार्यता निस्संदिग्ध है। राधा के ये गुण, राधा को मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठापित करते हैं और राधा मानवी के रूप में लीला करती हैं। गोलोक में राधा का रास सदैव चलता है, पृथ्वीलोक पर इसमें व्यवधान भी पड़ सकता है। राधा के विविध नाम राधा की शक्ति, राधा के प्रभाव एवं राधा के व्यापकत्व की सूचना देते हैं। राधा सर्वस्व एवं सर्वेश हैं। माधव के साथ इनका अभिन्न रहना एक ओर तो इनकी समर्पणशीलता का द्योतक है, आदर्श है, दूसरी ओर इनके अद्भुत शील, शक्ति एवं सौंदर्य का अभिव्यंजक है। राधा केवल 'सुंदरं' की प्रतीक ही नहीं, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शील एवं शक्ति की साक्षात् मूर्ति हैं और यही कारण है कि कृष्ण उनके साथ अभिन्न रहने में गौरव समझते हैं और गर्व की अनुभूति करते हैं। राधा की नाममहिमा, गुणमहिमा, रूपमहिमा एक एक प्रतीक है, जिसपर हम सबका ध्यान सम्यक् रूप से जाना चाहिए।

●

पौराणिकी

[इस स्तंभ के अंतर्गत ऐतिहासिक महत्त्व की अप्रकाशित मूल सामग्री का प्रकाशन किया जायगा। इस अंक में आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम कुछ पत्र सभा संग्रह से प्रस्तुत किए जा रहे हैं। ऐसी सामग्री इस स्तंभ के लिये आमंत्रित है।]

इन सभी पत्रों में पत्रसंख्या द्विवेदीजी द्वारा अंकित है।

[१] श्रीनगर

श्रीहरिः २९—९—१९०६

प्रिय पण्डितजी महोदय।

प्रणाम पुरस्सर निवेदन है कि आपका कृपा पत्र पाया। चित्त अत्यंत आनंदित हुआ। मेरा स्वास्थ्य आपकी कृपा से अच्छा होता जाता है। श्रीमान् भी पहिले से अब कुछ अच्छे हुए हैं। दशमी का उत्सव निर्विघ्नतया समाप्त हुआ। श्रीमान् यहाँ से शीघ्र ही मुंगेर जाने का विचार कर रहे हैं। मैं दो मास की छुट्टी लेकर घर जाने चाहता हूँ। मेरे घर के उत्तर और पूरब तरफ जो घेरे की दीवाल थी वह गिर पड़ी। घर नहीं गिरे किंतु उनकी दीवालें कहीं कहीं फूट गई हैं। ईश्वर की कृपा से घर किसी प्रकार बच गया। मरम्मत की जरूरत है। इसीलिये मैं चाहता हूँ कि कातिक में घर जाकर टूटी फूटी दीवालों की मरम्मत करवा दूँ। हम लोग आपके उत्साह को कहाँतक बढ़ा सकते हैं। आपही अपने सरस लेखों के द्वारा सरस्वती के समस्त पाठकों के उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ा रहे हैं। जिस उत्साह से इस समय आप सरस्वती का संपादन कर रहे हैं ईश्वर उस उत्साह को दिन दिन दूना बढ़ावें और घर घर सरस्वती का प्रचार हो। आपके सदृश हिंदी के सहायक इस समय विरले ही हैं, यदि आपका अनुराग हिंदी की ओर ऐसा ही दृढ़ बना रहेगा तो कुछ दिनों में हिंदी के साहाय्य करनेवालों की संख्या अवश्य बढ़ जायगी

पत्र सादे कागज पर है।

और संपूर्ण भारत वर्ष में हिंदी भाषा व्यापक रूप से व्याप्त हो जायगी। इति

भवदीय कृपाभिलाषी
जनार्दन झा

[२]

२४६७ SRINAGAR RAJ
GOLKOTHI
Monghyr.

dated २० अकतूबर १६०६

प्रियवर महोदय।

आपका पत्र पाकर मुझे बड़ा ही हर्ष हुआ। आप मुझसे कलकत्ते से लौटती बेर यहाँ मुलाकात करेंगे इसका मुझे और भी आनंद है। मुझे भी आपसे मिलने की बड़ी ही उत्कंठा है। मैं अभी निश्चय नहीं कर सकता कि दिसंबर में मैं कहाँ रहूँगा। मेरा के एक इलाका इस बेर भी बाढ़ से बड़ा ही नष्ट हो गया है। भारी अकाल का सामना है। इससे मेरी राय दौरा करने की है। आप कृपा करके अपने आने का दिन निश्चय कर लिखियेगा तो मैं सब कामों का बंदोबस्त कर आपसे मिलने के लिये मुंगेर में उपस्थित रहूँगा।

दिवाली से एक रोज केवल मैं यहाँ आया हूँ। जनार्दन झा ने एक मास की छुट्टी ली है घर गये हैं। अपना कुशल बराबर लिखा कीजिये। इति।

आपका निश्छल
श्रीकमलानंदसिंह

पत्र राजमुद्रांकित कागज पर है और लिफाफे में अंग्रेजी में लिखा हुआ २१।१०।०६ लिखा है।

[३]

श्रीहरिः

SRINAGAR RAJ.

GOLKOTHI

२४६५ Monghyr

dated १६।११।१६०६

प्रियवर महोदय!

मेरी बीमारी बढ़ती जाती है। इससे अब एक काशी का कविराज से चिकित्सा कराने का ठीक किया है। वह २२ से चिकित्सा आरंभ होगी। कविराज ने ३ महीने की वादा की है। और एक महीने में कहा है कि फायदा मालूम होगा। इसलिये अब मैं डिसेम्बर भर कहीं नहीं जाऊँगा मुङ्गेर में अथवा कलकत्ते में जहाँ कविराज कहेंगे उनके साथ रहूँगा। यदि आपका आना इस तरफ हो तो हमसे अवश्य मिलियेगा। मैं जहाँ रहूँगा वहाँ ही आपको सुभीता है। याने चाहे मुङ्गेर चाहे कलकत्ते। और क्या लिखें इसी बीमारी के कारण मेरा पढ़ना लिखना छुटा हुआ है चित्त स्थिर हीं रहता है। भावन शक्ति एकदम लुप्तप्राय हो गई है। इति।

भवदीय

श्रीकमलानन्दसिंह

पत्र राजमुद्रांकित कागज पर है और द्विवेदीजी ने अंगरेजी में रिप्लाईड २२।११।०६ लिखा है।

[४]

श्रीहरिः गोलकोठी मुङ्गेर

२४६० १०—३—०७

प्रिय पण्डितजी महोदय

प्रणामपूर्वक निवेदन।

बहुत दिनों से आपका कुशल समाचार नहीं पाया।

पत्र पोस्टकार्ड पर है तथा पीठ पर पता अंगरेजी में लिखा गया है।

दौलतपुर के पते से एक पत्र मैंने भेजा उसका उत्तर भी कुछ नहीं आया।

मैं सरकार की आज्ञानुसार किसी काम के लिये दरभंगे जिले के कई गाँवों में घूमघाम कर दो सप्ताह के अनन्तर लौट आया हूँ। जिस कार्य के लिये गया था वह सम्यक् सिद्ध नहीं हुआ। एक बार फिर उधर जाने की जरूरत पड़ेगी।

श्रीमान् अभी बराबर यहीं रहेंगे। श्रीमान् के चिरंजीवि कुमार का यज्ञोपवीत द्वितीय चैत्र में होने की बात थी परंतु श्रीनगर के चारो तरफ हैजा फैल जाने के कारण दिन बढ़ा दिया गया अब वैशाख शुक्ल में उपनयन का शुभ मुहूर्त बना है।

श्रीमान् को आपकी स्वाधीनता सुना रहा हूँ। श्री को समर्पण स्वीकार है। इसके विषय में सविस्तार समाचार दूसरे पत्र में लिखूँगा। मैं यथासमय उत्तर नहीं भेजता। क्षमा के लिये मेरी प्रार्थना क्या कबूल न होगी? इति।

कृपाकांक्षी
जनार्दन झा

[५]

श्रीहरिः मुङ्गेर

२४८३ २५-८-०७

पत्र साढ़े कागज पर है। द्विवेदीजी ने अंगरेजी में लिखाईंफ २८-८-०७ लिखा है।

प्रिय पण्डितजी महोदय।

प्रणाम

मैं तीन मास के अनन्तर कल श्रीमान् की सेवा में उपस्थित हुआ। घर पर अनेक प्रकार के कार्मों में पत्र भेजने का समय मुझ दीन को न मिला। आशा है कि आप इस अपराध को क्षमा करेंगे।

आपके आशीर्वाद से मेरे घर पर सब लोग कुशली है। जो कुछ गृहकार्य आवश्यकीय था वह आपकी कृपा से सामान्यतः सम्पन्न हुआ।

विशेष खेद की बात यह है कि हम लोगों के देश में अनावृष्टि के कारण भदई की फसल अर्द्ध सम्पन्न होकर मारी गयी। अगहनी की आशा भी बहुत कम है। अपना चारा

ही क्या। भारतवर्षीय प्रजाओं पर ईश्वर का अधिक प्रकोप दृष्टिगोचर होता है।

स्वाधीनता को सचित्र कर अब शीघ्र श्रीमान् के निकट भेजने की कृपा कीजिए। आश्विन का दशहरा भी अब समीप आया। मैं यहाँ नहीं था इसी से स्वाधीनता के विषय में श्रीमान् विस्मृत वैयाकरण होकर बैठे थे। अब आप अपनी ओर का कर्तव्य सम्पादन करने में बिलम्ब न करें। इति।

भवदीय कु० कां०
जनार्दन झा

[६]

श्रीहरिः

SRINAGAR RAJ
२४८४ GOLKOTHI
Monghyr.

dated २५।८।१९०७

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी
संपादक सरस्वती

प्रिय विज्ञवर महाशय।

बहुत दिनों से आपका कोई पत्र नहीं पाया। स्वाधीनता के लिये मैंने जो चित्र भेजा था उससे ब्लाक तैयार कराकर तसवीर उतारी गयी वा नहीं? यह अब तक मुझे कुछ ज्ञान नहीं। स्वाधीनता की पुस्तक यदि सम्पूर्ण पुस्तकाकार छप चुकी है तो उसकी एक प्रति मेरे अवलोकनार्थ भेज दीजिये।

यदि वेङ्कटेश्वर प्रेस ने आपके पास ब्लाक भेजा हो तो उसी से चित्र छपवा लीजियेगा। दूसरा ब्लाक तैयार कराने की कोई जरूरत नहीं, न भेजा हो तो फिर उसे भेजने को मैं लिखूँ। इति।

भवदीय
कमलानन्दसिंह

पत्र राजमुद्रांकित कागज पर है। द्विवेदीजी ने अंग्रेजी में रिप्लाइड २८।८।०७ लिखा है।

[७]

GOLKOTHI

Dated 15th Sept. 1907

२४७६

प्रिय पण्डितजी महोदय।

प्रणाम

आपके भेजे हुए कृपापत्र आये। आपने जो मेरे ऊपर वात्सल्य प्रकट किया है एतदर्थ मैं आपके परम कृतज्ञ हूँ। मेरा स्वास्थ्य फिर जुकाम से कुछ खराब हो गया है। विदेश में आहार विहार का संयम होना बड़ा कठिन है। तथापि जहाँ तक होता है पथ्य करते हैं। आपके घर पर जो लोग बीमार हैं ईश्वर उन्हें शीघ्र आरोग्य प्रदान करें।

श्रीमान् के अनुज अब अच्छे हैं। कल्ह यहाँ से डेवढ़ी रवाना होंगे। इनकी हवेली में भी अब बीमारी निवृत्तप्राय है। श्रीमान् बड़ा सरकार ४ अक्तूबर को यहाँ से डेवढ़ी के लिये प्रस्थान करेंगे। मेरी सेहत अच्छी रहेगी तो मैं भी इनके साथ डेवढ़ी जाऊँगा।

ऐसाइटिक सोसाइटी जिल्द २ नं॰ ४ में राजमहल की सौरिया जातियों का हाल लिखा है पर चित्र उसमें नहीं है। चित्र के लिये श्रीमान् की सेवा में मैंने इत्तिला दी है। श्रीमान् उसका खोज करेंगे। आशा है मिल जायगा। यदि उस जाति के लोग अभी वर्तमान हैं तो वहाँ जाकर कोई चित्रकार उन लोगों का फ़ोटो उतार सकता है इसके विषय में फिर आपको लिखूँगा इति

कृपाकांक्षी

जनार्दन झा

पत्र राजमुद्रित कागज पर है और द्विवेदीजी ने अंगरेजी में रिमार्क्स ४।१०।१९०७ लिखा है।

[८]

श्रीहरिः

२४७८

SRINAGAR RAJ.

GOLKOTHI.

Monghyr deted २३।१०।१९०७

प्रिय पण्डित जी महोदय !

प्रणति पूर्वक निवेदन है कि आपका कृपापत्र जो चरखारी से लौट आने पर आपने भेजा था, मैंने पाया। परन्तु नवरात्रा प्रयुक्त अनेक प्रकार की भीर भार में फँस जाने के कारण उत्तर भेजने में विलम्ब हुआ। क्षमा कीजियेगा।

श्रीमान् नवरात्रा में स्वयम् भगवती का पूजन करते हैं। इस वर्ष श्रीमान् छोटे सरकार के इष्टदेव की पूजा भी इन्हीं को करना पड़ा क्योंकि वे आलस्य के कारण स्वयम् अपनी नियम पूजा इस वर्ष नहीं कर सके। आहार विहार में समयातिक्रम होने से श्रीमान् का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा। चार पाँच दिनों से क्लेश कुछ बढ़ा हुआ है। बीमारी प्रायः अम्लपित्त की है। वैद्यों की दवा हो रही है। एक कविराज जिनका नाम धर्मदास है जिनकी चिकित्सा काशी में चिरकाल से चल रही है। एक वर्ष से आप श्रीमान् को आरोग्य रखने का बीड़ा लिये यहाँ उपस्थित हैं। बराबर श्रीमान् के साथ रहते हैं। ३००) मासिक वेतन पा रहे हैं। मुंगेर के एक प्रसिद्ध हकीम बाबू भुवनेश्वरीप्रसाद मिश्र भी दो वर्ष से ५०) रु० मासिक पर श्रीमान् के चिकित्सार्थ नियुक्त हैं। एक डाक्टर रजनीकान्त दत्त जो बराबर श्रीनगर में रहते हैं ये सब अपनी अपनी सूझ के अनुसार श्रीमान् के आरोग्यार्थ औषध का उपचार कर रहे हैं। किन्तु अधिक औषधोपयोग होने पर भी श्रीमान् के शरीर की स्थिति पूर्ववत् है। अस्तु

स्वाधीनता का पारितोषिक ५००) की नोट रजिस्टरी के द्वारा शीघ्रातिशीघ्र आपके पास भेजवाने का यथोचित प्रबंध हो रहा है। आपके पास जब ये रु० भेजे जा चुकेंगे तब मैं यहाँ से छुट्टी लेकर कुछ दिन के लिये अन्यत्र जाऊँगा।

आपका कृपाकांक्षी

जनार्दन झा

पत्र राजमुद्रांकित कागज पर है। द्विवेदी जी ने हाशिए पर अंगरेजी में रिमार्क्स २८।१०।०७ लिखा है।

[६]

श्रीहरिः

२४७७

SRINAGAR RAJ.

GOLKOTHI

Monghyr dated २।११।१६०७

प्रिय पण्डित जी महोदय !

(पत्र राजमुद्रांकित कागज पर है।)

प्रणाम

आपका पत्र पाया। श्रीमान् की अस्वस्थता पर जो आपने खेद प्रकाश किया है सो बहुत ठीक है। श्रीमान् का स्वास्थ्य एक सप्ताह से बहुत ही बिगड़ गया है। ऊर्ध्ववायु का प्रकोप अधिक है। भोजन करने के साथ वमन हो जाता है। अल्पाहार यथा बारली इत्यादि भी ठहरने नहीं पाता। कमजोरी यहाँ तक बढ़ गयी है कि दो चार डेग भी बिना दूसरे की सहायता से चल नहीं सकते। किसी किसी समय पेट में दर्द इतना हो जाता है जो सह नहीं सकते। मूर्छा हो जाती है। कल्ह पुर्निया के सिभिल सर्जन ने आकर देखा। यंत्रादि द्वारा शरीर की जाँचकर दवा दे गया है तीन चार दिन से नींद नहीं होती थी आज कुछ निद्रा हुई है और ऊर्ध्ववायु भी कुछ दबा हुआ सा जान पड़ता है। देखते देखते रोग असाध्यप्राय हो गया था पर भगवत्कृपा से अब अनुकूल होने की आशा है। कम से कम दो सप्ताह में श्रीमान् का स्वास्थ ठिकाने पर आने की बात वैद्य लोग बोलते हैं।

चार पाँच रोज से मुझे भी ज्वर का पूर्वरूप उद्भासित होता है परंतु पथ्यादि के कारण ज्वर अपना पूरा प्रभाव अभी तक उद्घट नहीं कर सका। ज्वर से बचने का इन दिनों यहाँ के लोगों के लिए एक मात्र उपाय भगवत्स्मरण और संयम नियम कुछ विशेष उपकार पहुँचाता नहीं। और हाल दूसरे पत्र में लिखूँगा। इति।

भवदीय कृपाकांक्षी

जनार्दन

❀

विमर्श

'भक्तबावनी' में वर्णित चरनदासजी का चरित्र

उपगारी जसराम कृत अभी कुछ रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें एक रचना 'भक्तबावनी' है। इस कृति की रचना चार खंडों तथा बावन प्रभावों में हुई है। एक प्रभाव के अंतर्गत एक भक्त का यशाख्यान वर्णित है। इस प्रकार इस ग्रंथ में सतयुग से लेकर कलियुग तक के ५२ भक्तों के यशों का वर्णन हुआ है। इस रचना में उपगारीजी ने अपना अत्यल्प परिचय भी दिया है जिससे ज्ञात होता है कि उपगारीजी चरनदासी संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी चरनदास जी के शिष्य थे—

चरनदास रणजीत गुर तास गुन करौं बर्षान।
रवि ज्यौं प्रगटे कलूँ निसि मेटो तिमि अज्ञांन॥ १॥

× × ×

चरणदास श्री गुरु कथा कहैं सुनैं जो कोय।
भक्ति होय उज्जल हियो पातग डारै धोय॥१४१॥

इस 'भक्तबावनी' का किंचित् ऐतिहासिक महत्व भी है, क्योंकि कई भक्तों के विषय में कुछ तथ्य ज्ञात होते हैं। इस रचना के ५१वें प्रभाव में जसराम जी ने अपने गुरु स्वामी चरनदासजी का यशोल्लेख किया है।

इस आख्यान में चरनदासजी का चरित्र संक्षिप्त किंतु पूर्णता के साथ वर्णित हुआ है। उपगारीजी की दृष्टि चरनदासजी के चमत्कारों तक ही सीमित नहीं रही है, अपितु प्रमुख घटनाओं और विशेष प्रवृत्तियों की ओर भी इन्होंने समुचित ध्यान दिया है।

अब इस आख्यान में वर्णित चरनदास जी का चरित्र उपयुक्त शीर्षकों के अंतर्गत दिया जाता है—

जन्मस्थान—चरनदासजी का जन्मस्थान मेवात प्रदेशांतर्गत अलवर नगर के समीप 'डहरा' नामक ग्राम है। चरनदासजी ने स्वयं इसका उल्लेख किया है—

डेहरे मेरो जन्म नाम रणजीत बखानो।
मुरली को सुत जान जात दूसर पहिचानो॥

प्रस्तुत उद्धरण की प्रथम पंक्ति में स्वामी जी ने अपना जन्मस्थान 'डेहरा' ग्राम लिखा है। उपगारीजी ने भी इस आख्यान में स्वामी जी का जन्मस्थान 'डहरा' ग्राम ही माना है। उपगारीजी का कथन है—

डहरा बसतो अलवर पासा।
... ...
साधु रूप जन्मे प्रभु वा घर॥

जन्मकाल—चरनदासजी के जन्मकाल के विषय में कोई अंतःसाक्ष्य नहीं उपलब्ध होता। उपगारीजी के मतानुसार स्वामीजी का जन्म मंगलवार, भादों सुदी तीज, संवत् १७६० वि० को हुआ था। उपगारी जी के ही शब्दों में—

साधु रूप जन्मे प्रभु वा घर॥
सत्रहि से साठा व्रप जानौं॥
भादौं सुदी तीज पहिचानौं॥
मंगल दिन रनजीत सुनामैं॥

उपर्युक्त उद्धरण में उपगारीजी ने जन्मतिथि, संवत् और दिन का स्पष्ट उल्लेख किया है।

माता पिता—चरनदासजी की माता का नाम कुंजो देवी और पिता का नाम मुरलीधर था। स्वामी जी ने आत्मपरिचय देते हुए अपने पिता का नाम मुरलीधर स्वीकार किया है, किंतु आश्चर्य है कि उन्होंने अपनी माता का नाम नहीं लिखा—

मुरली को सुत जान जात डूसर पहिचानो॥

इस विषय पर जसरामजी ने केवल एक ही पंक्ति में माता-पिता, दोनों का नामोल्लेख कर दिया है—

कुंजों मात पिता मुरलीधर। साधु रूप जन्में प्रभु वा घर॥

सहजोबाई के कथन से भी उपर्युक्त उल्लेख की पुष्टि होती है—

धन माई कुंजो रानी धन मुरलीधर तात।

चरनदास जी का जन्म शोभनदास (चरनदास के पूर्वज) से पाँचवीं पीढ़ी में हुआ था। इसका उल्लेख भी उपगारीजी ने किया है—

मंगल दिन रनजीत सुनामैं। सोभन पंचमि पीढी ठामैं॥

जाति—चरनदास जी का जन्म डूसर कुल में हुआ था। आत्मपरिचय में स्वतः इन्होंने कहा है—

मुरली को सुत जान जात दूसर पहिचानो ॥

उपगारीजी ने भी चरनदासजी को दूसर कुलोत्पन्न माना है—

डहरा बस्ती अलवर पासा । जहाँ दूसर कुल सोभन दासा ॥

उपर्युक्त उद्धरण में चरनदासजी के पूर्वज शोभनदासजी को दूसर कुल का बताया गया है। अतः चरनदासजी भी दूसर कुल के थे।

'दूसर' अब अपने को भार्गववंशी ब्राह्मण कहते हैं, लेकिन अब से कुछ समय पूर्व दूसर 'वैश्य' ही कहलाते थे।

नाम—'चरनदासी संप्रदाय' के प्रवर्तक का बाल्यावस्था का नाम 'रणजीत' था। स्वामीजी ने स्वयं अपने पहले नाम 'रणजीत' का उल्लेख किया है—

डेहरो मेरो जन्म नाम रणजीत बखानौ ॥

इस कथन का समर्थन उपगारी जी की निम्न पंक्तियों से होता है—

मंगल दिन रनजीत सुनामैं ॥
सोभन पंचमि पीढ़ी ठामैं ॥

जसरामजी ने 'रणजीत' और 'चरनदास' दोनों नामों का साथ साथ भी उल्लेख किया है, जिससे यह पूर्णतया निश्चय हो जाता है कि चरनदास जी का ही बाल्यावस्था का नाम 'रणजीत' था। यथा—

चरनदास रणजीत गुर तास गुन करौं बखान ॥

उपगारी जसराम जी के मत से चरनदासजी का 'चरनदास' नामकरण श्री शुकदेवजी ने १९ वर्ष की अवस्था में दीक्षा मंत्र देने के पश्चात् किया था—

प्रेम मगन नौ बरस लग फिरे जगत के माँहि ।
जब भये बरस उनीस के सहज गए वा ठाँहि ॥

× × × ×

जब किरपा करि दृच्छा दीनी । तन मन देहन पूजा कीनी ॥
किरपा करि सब ही कछु दीना । भक्तराज सादर सब लीना ॥
चरणदास कही नाम तुम्हारो । श्री तिलक मस्तक पर धारो ॥

श्री शुकदेव जी द्वारा 'चरनदास' नाम रक्खे जाने का उल्लेख स्वयं चरणदास जी ने भी किया है—

रमत मिले शुकदेव नाम चर्णदास धरायो ॥

बाल्यावस्था—जसरामजी इस संबंध में लिखते हैं—चरनदास जी के हृदय में बचपन से ही भक्ति का उदय हो गया था। हर समय इनका मन भक्ति में लीन रहता था। एक दिन जब ये बालकों के साथ नदी किनारे खेल रहे थे तो एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई।[१] वहाँ एक अवधूत का आगमन हुआ। उस अवधूत ने बालक चरनदास को बाँह पकड़कर उठाया और ले जाकर वटवृक्ष के नीचे छाया में बैठा। तदनंतर बालक को उसने अपनी गोदी में बैठाया और उसके माथे पर हाथ रखकर कहा—

माथे कर धरि यौं कह्यो तू सिसु भयो हमार ॥
तो जस बढ़िहै जगत मैं फैलै भक्ति तुम्हार ॥

तत्पश्चात् बालक को पेड़े प्रदान किए और पुचकार कर हृदय से लगाया। बालक ने अवधूत के चरणों में अपना सिर रख दिया।[२] यह घटना चरनदासजी की पाँच वर्ष की अवस्था में घटित हुई थी।

इसके बाद चरनदासजी की शिक्षा का आरंभ हुआ। परंतु यह क्रम अधिक समय तक न चला। एक दिन सहसा मुरलीधर के गायब हो जाने पर चरनदास जी की माता दिल्ली अपने पिता के घर आगईं। यहीं फिर बालक चरनदास को भी बुलवा लिया।[३] स्वयं चरनदासजी ने बाल्यावस्था में अपने दिल्ली आने का वर्णन किया है।[४] बालक को शिक्षा के निमित्त मुल्ला के पास बैठाया गया, किंतु माता तथा नाना का यह प्रयत्न असफल रहा। बालपन में जब माता तथा मातामह ने चरनदास की सगाई करने का बड़ा आग्रह किया तो

१. भक्ति भई बालकपन सेती। भजन करे सब कुटुँब समेती ॥
भक्ति बिना कोई और न बूजा। तिलक करै अरु सेवा पूजा ॥
पाँच बरस के भये कुमारे। खेलन गए जू नदी पारे ॥
तहाँ अवधूत चलो इक आवा। बाँह पकरि रणजीत उठावा ॥
जाय करि बैठे बड़ की छाया। गोदी में रणजीत उठाया ॥

२. दोउ कर मैं पेड़े दीये। पुचकारो फिर लायो हीये ॥
ऐसो हेत बहुत उन कीनां। बालक तो चरनों सिर दीनां ॥

३. फिर मुरलीधर गयो समाई। माता दिल्ली पहरै आई ॥
बहुरि लियो रणजीत बुलाई। सैनें कौं रथ दियो पठाई ॥

४. बाल अवस्था मांहि बहुरि दिल्ली मैं आयो ॥

इन्होंने साफ़ मना कर दिया। इससे कुंजो माता को अत्यंत दुख हुआ। इन्होंने उसको भगवत्-भक्ति-ज्ञान दिया।[५]

नाना के घर नित्यप्रति भागवत का पाठ होता था। उसको सुन सुनकर इनके हृदय में अत्यधिक भगवत्प्रेम बढ़ता गया। दिन पर दिन बालक चरनदास की मनोवृत्ति ईश्वर के चरणों में दृढ़तर होती गई। ईश्वरप्राप्ति के निमित्त गुरु की खोज में फिरने लगे।[६]

गुरु—चरनदास जी के सतगुरु व्यासपुत्र शुकदेवजी माने जाते हैं। चरनदास के गुरु के विषय में प्रायः सभी विद्वानों का यही मत है। स्वतः चरनदासजी ने स्थान स्थान पर शुकदेव को अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया है।[७] उपगारीजी ने भी व्यासपुत्र शुकदेवजी को ही चरनदास का गुरु बताया है।[८] जसरामजी ने प्रस्तुत आख्यान में गुरुप्राप्ति एवं दीक्षासंस्कार का निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

चरनदास जी प्रेम में मग्न ९ वर्ष तक इधर-उधर गुरू की खोज में फिरते रहे। जब १९ वर्ष के हुए तो एक दिन सहज ही उस स्थान पर पहुँचे—

५. फिर मुखजा पै पवन बिठाये ॥··· ··· ··· ··· ॥

× × × ×

एक सगाई जब ही आई। बहुत कही नहीं खई सगाई ॥
कुंजो माई बहु दुख माना। माता कौं जब दीयो ज्ञाना ॥

६. होय भागवत नित नांना घर। उपजो प्रेम दसम कौं सुनि कर ॥

× × × ×

हरि गुर को भयो प्रेम अपरबल। ज्यों बरषा रितु मैं सरिता जल ॥
चहूँ दिसि श्री गुरु ढूँढन लागे। पूरे गुरु कहीं मिलैं सुभागे ॥

७. रमत मिले शुकदेव नाम चर्णदास धरायो ॥
कहैं गुरु शुकदेव जी चरनदास गुलाम ॥
गुरु सुकदेव कृपा करी भई अमोलक देह ॥ आदि

८. पाय गुरु चरनन करीं व्यास पुत्र मम ईस ॥
··· ··· ··· ···

दादा गुरु वृयास सुत श्री सुकदेव सुजान ॥ (भक्तिबोध से)

प्रेम मगन जो बरसलग फिरे जगत के माँहि।
जब भए बरस उनीस के सहज गए वा ठाँई॥
सुक श्रीकृत की कथा सुनाई। जो शुक तार जगहि कहलाई॥

जाने पर चरनदास जी ने,

तहाँ एक अवधूत निहारा। अद्भुत रूप तेजवंत भारा॥
दरसन करि मन मैं यों आई। इनकी मैं अब क्यों सरनाई॥

ऐसे अलौकिक तेजवंत महापुरुष को देखकर चरनदास का मन अत्यंत पुलकित हुआ। प्रसन्नता और श्रद्धा की प्रबलता से अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। इसके अनंतर चरनदास ने दीक्षा देने के लिये प्रार्थना की—

बंदन करि जोरे कर आगे। महापुरुष लखि पूछन लागे॥
कहाँ रहौ कैसे ह्यां आये। क्यौ नैननु तै नीर बहाये॥
कही रणजीत सुनौं गुरदेवा। मोहि मिलाबौ कृष्ण अभेवा॥

× × × ×

दरसन दे मोहिं भक्ति बपाई। अब दइया दीजै मुनि राई॥
जब किरपा करि दइया दीनी। तन मन देहन पूजा कीनी॥

× × × ×

... ...। श्री तिलक मस्तक पर धारौ॥
पीत बसन गल तुलसी माला। मत भागौत इष्ट गोपाला॥

दीक्षित शिष्य को भक्ति-अंग, अष्टाङ्ग योग, वैराग्य और अद्वैतज्ञान आदि का पूर्ण ज्ञान दिया। दीक्षार्थी का द्वितीय नया नाम चरणदास रखा और जीवों को उपदेश देने की आज्ञा प्रदान की—

भक्ति अंग सो सभी बताये। आठौ अंग जोग समझाये॥
तीबरतर बैराग दिवायो। अरु अद्वैत ज्ञान बतलायो॥
किरपा करि सब ही कछु दीनां। भक्तराज सादर सब लीनां॥
चरनदास कही नाम तुम्हारो। ... ...॥

× × ×

यह सब कछु जो मैं कहो तू सिसु हिरदे धार।
और जीव उपदेश यौ या हित जनम तुम्हार॥

इस प्रकार १९ वर्ष की अवस्था (सं० १७७६ वि०) में श्री शुकदेवजी ने चरनदासजी को दीक्षित किया।

शिक्षा—बचपन में बालक चरनदास को शाकर बनाने के लिये उसके अभिभावकों को चिंता होने लगी। अतएव बालक को अक्षरज्ञान के लिये पाठशाला भेजा गया, किंतु पाठशाला के आचार्य का एक भी प्रयास सफलीभूत न हुआ। बालक ने पढ़ने के स्थान पर केवल श्रीगोपाल का ही स्मरण किया।[९]

फिर बालक चरनदास के दिल्ली आ जाने पर उसके नाना ने उसे पढ़ने के लिये एक मुल्ला के पास बैठाया कुछ दिन तक तो संकोचवश बालक बोला ही नहीं लेकिन नित्यप्रति वहाँ चला अवश्य जाता था। मुल्ला को भी बालक चरनदास को पढ़ाने में सफलता प्राप्त नहीं हुई।[१०] बालक ने कहा --

कही रणजीत पढ़े हरि नामां। और पढन सौं ना कछु कामां॥

अंत में बालक के तर्कों तथा अलौकिकता से पराजित एवं आश्चर्य चकित होकर मुल्ला ने उसे, उसके नाना के पास ले जाकर कहा--

आय ननां पै मुलाँ सुनाया। यह तो बालक पढ़ो पढ़ाया॥

और यहीं से बालक चरनदास के पढ़ने का क्रम स्थगित हो गया।

शारीरिक बनावट—चरनदास जी की शारीरिक बनावट के विषय में प्रस्तुत आख्यान से कोई विशेष सूचना प्राप्त नहीं होती है। यत्र तत्र भी जो उल्लेख हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि चरनदास जी का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। शांतभाव उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है। उनका मुखमंडल कांति से युक्त था। शरीर सुडौल तथा मनोहर प्रतीत होता था।

पर्यटन—चरनदास जी द्वारा की गई दो यात्राओं का उल्लेख रामजी ने अपने इस आख्यान में किया है। स्वामीजी ने प्रथम यात्रा पिता के देहांत के अनंतर बाल्यावस्था में अपने जन्मस्थान से दिल्ली तक की। इस यात्रा का लक्ष्य चरनदास की माता और मातामह द्वारा निर्धारित किया जा चुका था। मुरलीधर की मृत्यु के अनंतर उनके परिवार को अपने साथ रखने के लिये ही चरनदास के मातामह ने उन्हें अपने घर बुला लिया। इस यात्रा में चरनदास के अन्य निकट संबंधी उनके साथ थे।

९. बहुरि पढन बैठाई था पांडे कै चटसाल।
पढा नहीं पाधा पचा सुमिरै श्री गोपाल॥

१०. ह्वाँ तैं चलि दिल्ली मैं आये। मिले सजन आनंद बढाये॥
फिर मुल्लां पै पढन बिठाये। कोई दिन बोले नहिं सकुचाये॥
जाय करि चित बैठे जा आँई। मुल्ला कही तुम पढते नाँहीं॥

दूसरी ब्रज प्रदेश की यात्रा का वर्णन हुआ है। इस यात्रा का लक्ष्य श्रीकृष्ण की लीलाभूमि ब्रज के दर्शन तथा साधु-संतों का संपर्क प्राप्त करना था। इस यात्रा का वर्णन चरनदासजी ने नादिरशाह के आक्रमण के बाद किया है। इतिहास के अनुसार नादिरशाह के आक्रमण का समय सन् १७३९ ई० है। अतएव यह ब्रजयात्रा सन् १७३९ के पश्चात् चरनदासजी ने की थी। इस यात्रा का केवल धार्मिक अथवा दार्शनिक महत्व ही नहीं है, अपितु इसका साहित्यिक महत्व भी है। इसी यात्रा के फलस्वरूप चरनदासजी ने अपने ब्रजचरित्र, अमरलोक आदि ग्रंथों की रचना की। इन ग्रंथों की रचना चरनदास जी ने दिल्ली में पहाड़गंज नामक स्थान पर की थी।[११] इस यात्रा में उन्हें श्रीकृष्ण, श्रीराधिका, श्री शुकदेवजी जैसे अलौकिक महापुरुषों के दर्शन हुए और अनेक साधु-संतों का समागम प्राप्त हुआ।

चमत्कार—संतों के चरित्र के साथ अलौकिक चमत्कारों का समावेश इस देश की प्राचीन परंपरा है। स्यात् ही ऐसा कोई भक्त हो जिसके व्यक्तित्व के साथ इस प्रकार की आश्चर्यजनक कथाएँ संबद्ध न हों। भारतवर्ष चिरकाल से धार्मिक भावनाओं से ओत प्रोत रहा है। जहाँ धर्म है वहाँ अंधविश्वास पहले स्थान पा लेता है। चमत्कार इन्हीं अंधविश्वासों के अविच्छिन्न अंग हैं। प्रायः चमत्कारों का वर्णन विश्वास और श्रद्धा के विकास में सहायक होता है।

संतों के चरित्र के साथ संबद्ध कथाओं के पीछे हमें भक्तों के अंधविश्वास ही नहीं वरन् उनकी हार्दिक श्रद्धा का भाव भी दृष्टिगत होता है। शिष्यों ने अपने-अपने सांप्रदायिक गुरुओं की महत्ता सिद्ध करने के हेतु उनके विषय में भाँति-भाँति की आश्चर्यजनक बातें गढ़ ली हैं। स्वामी चरनदास भी इसके अपवाद नहीं हैं।

चरनदासजी के जीवनसंबंधी चमत्कार तीन प्रकार के हैं। प्रथम वे हैं, जिनका सांप्रदायिक महत्व है। इस कोटि में अधिकतर संत चरनदासजी की सर्वज्ञता, सामर्थ्य तथा शक्ति सत्ता के द्योतक हैं। द्वितीय कोटि में वे हैं, जिनका सांप्रदायिक एवं राजनीतिक दोनों प्रकार का महत्व है। इनमें राजनीतिक व्यक्तियों का गर्वमोचन तथा चरनदास जी का महत्व प्रदर्शित किया गया है। तृतीय कोटि

११. भक्तराज दंडवत करि धावा। ले आज्ञा दिल्ली में आवा॥
पहाड़गंज मैं करि अस्थाना। बाकी बिरज चरित्र बखांनां॥
दूजे अमर लोक पुनि गायो। जो कछु देखी बरनि सुनायो॥
और ग्रंथ बहु बिस्तरे भक्ति जोग अरु ज्ञान॥
सरब अंग बरनन करे पढि सुनि होय कल्यान॥

के वे हैं, जिनके द्वारा अन्य सांप्रदायिक व्यक्तियों की तुलना में चरनदासजी की महत्ता संस्थापित हुई है।

चरनदासजी के इस आख्यान में कई चमत्कारों का उल्लेख हुआ है, किंतु वे सभी इन्हीं तीन श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं। प्रस्तुत आख्यान से उन्हें उद्धृत किया जाता है।

१. बाल्यावस्था में बालक चरणदास अपने घर से नाना के घर जाने के लिये कुछ निकट संबंधियों के साथ यात्रा कर रहा था। मार्ग में एक सिंह मिल गया। सब लोग मन में डरे, किंतु चरनदास घबड़ाए नहीं। सिंह ने निकट आकर रथ के अंदर मुँह दिया। चरनदास ने अपना पैर आगे बढ़ा दिया। पैर चाटने के थोड़ी देर बाद सिंह चला गया और थोड़ी दूर पहुँचते ही उसने प्राण त्यागकर इंद्रलोक की यात्रा की।[12]

२. दीक्षित होने के अनंतर दिल्ली में चरनदासजी गुफा बनाकर तप कर रहे थे। एक दिन हरि के ध्यान में लीन थे, बाहर आग लग गई। छप्पर जलकर ऊपर गिरा, किंतु उन्हें किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँची।[13]

३. एक खत्री के सात पुत्रियाँ थीं, परंतु पुत्र एक भी नहीं। वह चरनदासजी की सेवा में अत्यंत दत्तचित्त रहता था। एक बार उसने अपनी पुत्रकामना निवेदित की। महाराज ने दो पुत्र होने का आशीर्वाद दिया। कालांतर में फिर दो पुत्रियाँ हुईं। स्वामीजी ने स्वयं एक दिन उससे पुत्रोत्पत्ति के विषय में पूछा। उसने दो पुत्री होने का वृत्तांत सुनाया। महाराज ने कहा—

१२. नाहर मुष रथमांहीं दीनां। भक्तराज आगे पग कीनां॥
चरन चाटि सिंह नायो माथा। जब रणजीत धरो सिर हाथा॥
फिर वाकौं इक बात सुनाई। वा सराप सौं छूटो भाई॥
अब तुम इंद्रपुरी कौं धावो। वे तन तजि कै वेगी आवौ॥
एक तीर भरि जाय कै नाहर त्यागे प्रांन।
सब नर अचिरज मानिकै धनि धनि करी बषांन॥

१३. साधु गजत हरि ध्यान मैं बाहर लगि गई आगि।
जरि कै छप्पर गुफा गिरि उनकौं आँच न लागि॥
लोगौं कही साधु जरि गैया। बैठे पाये प्रभु अचैया॥

'वे पुत्री नहीं पुत्र हैं'। हमसे झूठ बोलते हो। उन्हें यहाँ ले आओ।' महाराज के प्रताप से दोनों ही पुत्र हो गए।[१४]

४. दिल्ली शहर में एक सिद्ध आया। वह अत्यंत अभिमानी था। उसका प्रण था कि जो मनुष्य कुएँ पर चद्दर बिछवाकर उस पर बैठकर दीक्षा मंत्र देगा, उसी को मैं अपना गुरु बनाऊँगा। स्वामी चरनदास ने उसके गर्व को चूर किया और उसकी इच्छानुसार दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया।[१५]

५. चरनदास जी ने ईरान से नादिरशाह के आगमन, मुहम्मदशाह की पराजय, नादिरशाह की विजय के विषय में भविष्यवाणी के रूप में ६ मास पूर्व मुहम्मद शाह से कह दिया था। जब नादिरशाह भारतवर्ष में आया और दिल्ली

१४. पुत्री सात पुत्र नहीं जाकै। कहि नहीं सकैं कामना वाकैं॥
पग दाबत इक भाग्यो सोई। भक्तराज कही द्वै सुत होई॥
उन बहुतन के आगै कही। दोइ सुता कोई दिन मैं भई॥
× × × ×
एक दिन आपही कही गुसाँई। कहो तुम्हरे सुत भयो कि नाहीं॥
उन कही आपु दए सुत सही। मम भागौं द्वै पुत्री भई॥
इक साथ द्वै भईं गुसाईं। तीन महीने भए इन ताहीं॥
मेरे निहचे पुत्र वें हाँसि करैं पै लोय।
चरण गुर यौं कही मोहि दिपलावौ सोय॥
वा संग वाकी नारी ल्याई। भक्तराज कौं आनि दिखाई॥
लखि स्वामी कही बौरे सबही। बेटीं कौं बेटी कहौ अबही॥
बेटे भये सदन वे देखे। लखि सब अचिरज मानि बिसेखे॥

१५. दिल्ली सहर सिद्ध इक आयो। वानैं अति अभिमान दिखायो।
× × × ×
मनुष गुरु मैं वाकौं करौं। वाके चरनौं माथा धरौं॥
कूये पै चद्दरि बिछिवावै। तहाँ बैठि मोहिं मंत्र सुनावै॥
बात सुनी बोले यौं स्वामी। सिसु वाहि करौं कहो निहकामी॥
होहि असवार चंडोल मैं वाकौं दरसन दीन।
स्वामी कही तू सच कहै तौ तोकौं सिसु कीन॥
× × × ×
सिद्ध कही ऐसो मिलो न कोई। अब तुम मिले दच्छा यौं सोई॥
कूये पै चद्दरि बिछवाई। तहाँ बैठि ताहि दच्छा सुनाई॥

को विजय करके लूट कत्ल कर चुका, तब मुहम्मदशाह ने सब हाल नादिरशाह को सुनाया। यह सुनकर नादिरशाह ने दर्शन के लिये उन्हें बुलाया। महाराज के जाने पर उसने 'करामात' दिखाने के लिये कहा। तब चरनदासजी ने ताज की ओर देखा तो ताज की कलँगी उड़ गई। नादिरशाह ने उन्हें जादूगर समझकर किले में बंद कर दिया। महाराज अंतर्धान होकर अपने स्थल पर जा पहुँचे। नादिरशाह ने उन्हें पुनः पकड़वाकर किले में बंद करवा दिया और चाभी अपने पास रख ली। अर्धरात्रि में चरनदासजी ने प्रकट होकर नादिरशाह के मस्तक पर लात मारी। वह घबड़ाकर उठा और चरणों में गिर पड़ा। महाराज ने उसे बहुत उपदेश दिया। नादिरशाह ने क्षमा याचना की। चरनदासजी को वहाँ से पालकी में बैठाकर दो उमराव स्थल तक छोड़ने के लिए आए।[१२]

१६. एक दिन स्वामी ध्यान मझारी। अगल यात दासी वा बारी ॥
सो कागज ऊपर लिपवाई। एक मुसुही देखी आई ॥
× × × ×
तिन कही बादशाहि पै जाई। बादशाहि लिपवाइ मँगाई ॥
जब उन मुहर छाप करि राषी। छठी महीना यौं ही ताकी ॥
× × × ×
आपु आय जो कछु ह्याँ कीनां। उनि छ मास पहिलै कहि दीनां ॥
× × × ×
स्वामी नादरशाहि बुलाये। दे ताजीम ऊँचै बैठाये ॥
करामात नादर कहि दीजै। स्वामी कही दया ही कीजै ॥
नादर कही कहर ही सही। कहत जभी कलगी उडि गई ॥
नादर कही यह जादूगीरा। जबही पग मैं जडी जंजीरा ॥
जभी कोठडी मैं जडि दीयो। जभी बुलाये काजी को लियो ॥
× × × ×
देषे तो फक्कर ह्याँ नाहीं। बेडी रही सब नादर साहीं ॥
× × × ×
पकडि बहुरि कोठे मैं दीया। अपने हाथौं चौकस कीया ॥
नादर सोयो आधि राता। स्वामी जाय करि मारी लाता ॥
लात लगी ता सीस मझारी। चौकि उठी देषे ता बारी ॥
देषत पडि गया चरनौं मांही। कही माफ सब करौं गुसांई ॥

६. जब चरनदास जी ब्रज के लिये यात्रा कर रहे थे तो मार्ग में बदमाशों ने घेर लिया और मार डालने का प्रयत्न किया। महाराज तो बच गए, किंतु बदमाशों की क्या दशा हुई, इसका वर्णन उपगारीजी की भाषा में इस प्रकार है—

अस्थल दियो लुटाय सब ब्रज कौं गए पधारि ॥
मिले सप्त ठग मग विपे फासो दीनी डारि ॥
भक्तराज गल फासी डारी। वाके अग्नि लगो तावारी ॥
फासी टूटी सब तन जरिया। स्वामी आप बुझावत करिया ॥
पड़ो धरनि पै बहु दुष भरिया। सब मैं मानि चरन मैं परिया ॥
कहैं सब छमाँ करौ अब नाथा। तुम्हरी भेंट चढायो माथा ॥
तजी ठगाई सौगंद लीनी। जब स्वामी गुरु दृया दीनी ॥
सातौ ठग वे संत बनाये। अज्ञा दे पुनि रमत पठाये ॥

७. दुर्रानी तथा उसके दो साथियों ने क्रमशः स्वामीजी पर तलवार से आक्रमण किया, किंतु वे काष्ठवत् हो गए। अंत में क्षमा याचना की और काबुल को चला गया। फिर यहाँ रुहेलों ने अपना राज्य बैठाया।[१०] यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। अहमदशाह दुर्रानी के वापस चले जाने के बाद उसके प्रतिनिधि के रूप में रुहेला सरदार नजीब खाँ दिल्ली का प्रशासक बना था।

८. किलेदार के मस्त हाथी का छूटकर चरनदास जी के स्थल पर आना और महाराज के चरणों को अपनी सूंड से चूमना, स्वामीजी का उसे उपदेश देना

× × × ×

एक पहर फिरि चरचा कीनीं। भक्तराज पुनि रुकसुद लीनीं ॥

× × × ×

साजि पालकी लई मँगाये। तामैं भक्तराज बैठाये ॥
द्वै उमराव पुचावन आये। ऐसे दुष्ट मलेच्छ चिताये ॥

१०. काहू एक दुरानी आया। दिली सहर सब कटा कराया ॥
महाराज पै तेग उठाई। काष्ट सम भयो कछु न बसाई ॥
क्रोधवंत होय दूजो आयो। वह वैसो भयो तीजो धायो ॥
तीनौं थम से ठाढ़े भये। औ सभी चरनो पड़ी गये ॥

× × × ×

वह फिरि उठ काबिल कौं धायो। बहुरि रुहले राज बिठायो ॥

और उसका महाराज की आज्ञा से अपने शरीर को त्यागना।[१८]

६. रुहेले सरदार का चरनदासजी को जाँचने के लिए आना और उसके लाए हुए मांस का पेड़ों में परिवर्तित होना। सरदार का क्षमा माँगना।[१९]

१०. मुसलमानों का स्वामीजी को मारने के लिये एकत्र होकर स्थल पर आना और वहाँ उनकी गैबी सोटों से मरम्मत होना। अंत में उनका चरनदास जी के चरनों में पड़ना और स्वामीजी द्वारा उनकी रक्षा करना।[२०]

चरनदास जी का चरित्र अद्भुत चमत्कारों से परिपूर्ण है। इनमें कहाँ तक सत्यता है और कहाँ तक कल्पना एवं श्रद्धा को स्थान दिया गया है, यह उक्त उल्लेखों को पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाता है। परंतु इन सबके अंतर्गत तथ्य यह है

१८. किलेदार को मस्त गज चलो छूट कैं धाय।
हूँ कै चास बजार मैं अस्तल पहुँचौ आय॥
उनि चरनौं सिर दिया नवाई। चूँ मैं चरन सु सूँडि लगाई॥
स्वामी कही भलैं तू आयो। यह तन पाप कहा सुप पायो॥
× × × ×
अब नहीं चेत भयो अभिमानी। अब तो सिर बैठो नर प्रानी॥
तू मद अंधो साधु सतायो। उसी पातै यह तनु पायो॥
भली भई अब दरसन पाये। पछिले पातग सभी मिटाये॥
अब पसु तन मैं चेतियो नर तन दियो गवाय॥
हस्ती तन अब त्यागि कै फिर नर तन तू पाय॥
फिरि वह हाथी रुकसत कीनां। और कछू परसाद जु दीनां॥
आयो महावत गहि ले गयो। अगले दिन तन त्यागत भयो॥
१९. जभी सहर मैं जस बहु छाया। बहुरि रुहेला जाचन आया॥
सहनक मैं आमिष धरि लायो। कही मैं वह परसाद चढ़ायो॥
स्वामी कही तौ धौ बरताये। आमिष मिटि पेड़े दरसाये॥
पड़ा रुहेला चरन मक्कारी। करौ पीर कही माफ हमारी॥
२०. सब मिलि कहि वाहि डारौ मारे। पूर्नौं मिस था होत सवारे॥
× × × ×
सब मिलि ऐसें निहचै करिया। जभी गैब सैं सोटे परिया॥
जहँ वह जाय तहाँई लागैं। छुटकत फिरैं न पावैं आगैं॥
तबही आय चरन मैं परिया। भक्तराज जब रक्ष्या करिया॥
सब तुरिकाओं पूछ बितावा। तजो वाद सब निहचै आवा॥

कि चरनदास जी साधना के क्षेत्र में सिद्ध थे और धार्मिक तथा सामाजिक जीवन को परिष्कृत एवं निर्दोष बनाने के लिये उन्होंने अथक परिश्रम किया। समाज के विकास में उनका अपना योगदान था। चरनदासजी की इन्हीं विशेषताओं ने उन्हें श्रद्धा के उच्च आसन पर बैठाया।

संमान तथा विरोध--युगपुरुष प्रायः सभी द्वारा संमानित होते हैं। उनकी महत्ता और उनके व्यक्तित्व के समक्ष सभी नतमस्तक हो जाते हैं। वह अपनी प्रतिभा और अपने चरित्र से बिना भेदभाव सभी के पथ को आलोकित किया करता है परंतु फिर भी अपवाद के रूप में उसके विरोधियों का अभाव नहीं रहता। दुष्ट मनुष्य अपने विरोध के द्वारा उसके व्यक्तित्व को और भी अधिक प्रोत्साहन एवं महत्व प्रदान करते हैं। यही दशा चरनदास जी के व्यक्तित्व की है। जहाँ उनका संमान हुआ वहाँ उनका अपमान और विरोध भी हुआ। किंतु संतों का चरित्र एवं व्यक्तित्व इन सब बातों से ऊपर हुआ करता है।

चरनदास अपने समय में एक युगपुरुष के रूप में पूज्य हुए। हिंदू-मुसलमान, साधु संन्यासी, गृहस्थ, दीन, धनी, स्त्री पुरुष, बालक, वृद्ध सभी वर्ग और वर्णों के व्यक्तियों ने उनका संमान किया। प्रस्तुत आख्यान में चरनदास जी के महत्व और संमानित होने का उल्लेख भी पर्याप्त रूप में हुआ है --

(१) सर्वप्रथम नादिरशाह द्वारा चरनदास जी का संमानित होना उल्लेखनीय है। इस आख्यान के अनुसार चरनदास जी ने नादिरशाह के अभियान की भविष्यवाणी तत्कालीन शासक मुहम्मदशाह के पास लिखकर भेज दी थी। कालांतर में यह बात सत्य घटित हुई। इस घटना का विशेष वर्णन चमत्कार शीर्षक के अंतर्गत हो चुका है। अंत मे चरनदास जी की साधना और करामातों से प्रभावित होकर उसने क्षमा याचना की और अनेक प्रकार से उनका संमान किया।

(२) दिल्ली का शासक मुहम्मद शाह चरनदासजी के प्रति विशेष श्रद्धालु था। नादिरशाह के प्रत्यागमन के अनंतर उसने गद्दी पर आकर उन्हें बहुत संमानित किया। इसका वर्णन इस आख्यान में निम्नलिखित है--

नदिरशाहि उतन कौं धायो। महमद शाहि दरस कौं आयो ॥
लिषि लायो इक परगनों आभूषन द्रव्य ल्याय ॥
हाथ बाँधि ठाढ़ो भयो इतनी भेंट चढ़ाय ॥

× × × ×

बादशाहि जब पास बिठाया। घडी चारि बैठा बतलाया ॥

× × × ×

निहुर बादशाहि करी सलामां। दई असीस गुरु अभिरामा ॥

३. दुर्रानी तथा उसके साथियों द्वारा स्वामी जी का संमानित होना—

फिरि वे पूजन लागे सोई ॥ कहीं फक्कर ऐसो नहीं कोई ॥

४. रुहेले सरदार और उसके साथियों द्वारा महाराज का संमान किया जाना—'पूजन लगे रुहेले जबही ॥......॥'

इस चरित्र में स्वामी जी का विरोध किये जाने का भी उल्लेख किया गया है। इसका अंतिम लक्ष्य है महाराज की महत्ता की स्थापना। यह विरोध एक मुसलमान पीरजादे द्वारा किया गया था। इसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है।—

पूजन लगे रुहेले जबही ॥ करो अकस पीरजादे तबही ॥
करि साथो सब मुसलमान सरै पुकारा सोय ॥
कही हिंदू इक फक्कर नैं दई मम प्रभुता खोय ॥
सब मिलि कहि वाहि डारौ मारे ॥ पूनों निस वा होत सवारे ॥

× × ×

सब तुरिकानां पूव चितावा ॥ तजो बाद सब निहचै आवा ॥

सेवा तथा त्याग भावना—सेवाभाव के दृष्टिकोण से चरनदासजी का व्यक्तित्व और महत्व अन्य संतों से भिन्न है। निर्गुण पंथी संत अधिकतर साधक एवं धर्मसुधारक थे। उन्होंने स्पष्टवादिता एवं व्यंग्यात्मक शैली को ग्रहण किया और इसी के द्वारा उन्होंने न केवल समाज के पाखंडों का रहस्योद्घाटन किया अपितु उसे अच्छी प्रकार से झकझोर डाला। उन्होंने सेवाभाव अथवा मनोवैज्ञानिकता के आधार पर समाज को दोषरहित करने का प्रयत्न नहीं किया वरन् 'डिक्टेटर' की भाँति कठोर आदेशों से उसे परिष्कृत करने का प्रयत्न किया। इन उक्त संतों में सहानुभूति की भावना का अभाव लक्षित होता है।

चरनदासजी साधक, धर्मसुधारक होने के साथ ही सेवाव्रती भी थे। इन्होंने दोषी समाज के अभावों को अपनी सहानुभूति और सेवाओं के द्वारा दूर करने का प्रयत्न भी किया।

चरन दास जी में सेवा भाव का यह बीज बाल्यावस्था से ही विकसित होता हुआ दृष्टिगत होता है। भिक्षुओं और आर्तों की सहायता करने के विषय में अनेक किंवदंतियां प्रचलित हैं। इनकी सेवाभावना दो भागों में विभाजित की जा सकती है। एक तो इन्हें लोकसेवी के रूप में पाते हैं। इनकी दया और लोकसेवकत्व की भावना केवल मानव जगत् तक ही नहीं

अपितु पशुओं तक प्रसार पाती थी। यही इनका लोकसेवी रूप धर्म और समाज के क्षेत्र में प्रस्फुटित हुआ।

स्वामीजी की सेवाभावना का द्वितीय क्षेत्र परोपकार की भावना थी। दुष्ट सज्जन, समर्थ असमर्थ सभी की सहायता करने के लिये ये प्रस्तुत रहते थे। दुर्जनों को सन्मार्ग पर लाने के लिये ये सदैव प्रयत्नशील रहते थे। ये चोरों[२१] और ठगों[२२] के प्रति भी दया का प्रदर्शन और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते थे। इस दया और सहानुभूति का प्रभाव उनपर सदैव अच्छा ही पड़ता था। ग्लानि का अनुभव करके वे अपने दुष्कृत्यों का स्वतः परित्याग कर देते थे।

स्वामी जी याचकों को अन्न वस्त्र दान में देकर उनके कष्टों का हरण करते थे। जो भी व्यक्ति किसी प्रकार की कामना अथवा इच्छा लेकर आते थे, ये उन सभी की पूर्ति करते थे।

चरनदास की सेवाभावना के समान त्यागभावना भी बड़ी उच्च कोटि की थी। इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत आख्यान में मिलते हैं जबकि इन्होंने अपनी त्यागशीलता का परिचय दिया। मोह, लोभ आदि से सदैव दूर रहते थे। दूसरों के हित का ही इन्हें सदैव ध्यान रहता था—

२१. इक दिन तहाँ चोर नौ आये ॥ बरतन बस्तर सभी चुराये ॥
अंधे भये राह नहीं पावै ॥ जहाँ जायँ माथा भिड़ि जावै ॥
भै मानैं रोवैं दुष पाई ॥ आप दयावंत राह बताई ॥
चरनौं पड़े वस्तु सब डारी ॥ आपु कही ले जाय सवारी ॥
भयो सवेरा देषै कोई ॥ पकड़े मारे आवौ सोई ॥
है सँग आपु दिये पहुचाई ॥ भक्ति दई चोरी छुटवाई ॥

२२. अस्यल दियो लुटाय सब व्रज कौं गए पधारि ॥
मिले सत्त ठग मगविषै फासी दीनि डारि ॥
भक्त राज गल फासी डारी ॥ वाकैं अग्नि लगी तावारी ॥

× × × ×

कहै सब छमाँ करौ अब नाथा ॥ तुम्हारी भेंट चढायो माथा ॥
तजी ठगाई सौगंद लीनी ॥ जब स्वामी गुरु दक्ष्या दीनी ॥
सातौं ठग वे संत बनाये ॥ आज्ञा दे पुनि रमत पठाये ॥

काहू की पूजा नहीं लेवैं ॥ उलटो आपु सभी कों देवैं ॥

नादिरशाह कुछ भेंट देना चाहता था। स्वामीजी से उसने कहा—

उन कही माल परगना लीजै ॥

स्वामी जी ने उत्तर दिया —

भक्तराज कही यह मोहि दीजै ॥
कोई कैसो फक्कर होई ॥ वाकों तुम जाचौ मति कोई ॥

और उसकी कोई भेंट स्वीकार नहीं की।

इसी प्रकार दिल्ली के तत्कालीन शासक मुहम्मद शाह ने परगना, आभूषण और बहुत सा धन भेंट करना चाहया, किंतु महाराज ने उससे कहा—

स्वामी कही सब ल्योह उठाई ॥ जब मोपै ह्याँ बैठौ आई ॥

शाह के बहुत आग्रह करने पर भी केवल एक नौरतनवाली पहुँची को स्वीकार कर शेष भेंट को लौटा दिया।

सबही भेंट फेरि जब दीनी। नौरतनतु की पहुँचो लीनी ॥

चरनदास जी ने ब्रज को प्रयाण करते समय अपने समस्त स्थल को लुटा दिया था—'अस्थल दियो लुटाय सब ब्रज कौं गए पधारि ॥' इनसे इनकी उच्च कोटि की त्यागभावना का पता चलता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्वामीजी की अपरिग्रह - वृत्ति के विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। ये निस्पृही थे। त्याग, सहानुभूति, सहिष्णुता और परोपकारिता ने इनके हृदय में 'सम-भाव' की भावना जाग्रत कर दी थी। और इस प्रकार वे वृहत्तर मानवसमाज के पोषक एवं संस्थापक बन गए थे। हिंदू हो या मुसलमान, सभी को इन्होंने समान रूप से चेताया।[२३]

मृत्यु—अपने महाप्रयाण से ६ मास पूर्व ही तथा पुनः दो दिन पहले सं० १८३६ के अगहन मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को चरनदास जी ने शरीर त्यागने की भविष्यवाणी कर दी थी।[२४] इस समाचार समस्त शिष्य समाज में

२३. हिंदू तुरिक चिताये सबही ॥

२४. ... ... । एक दिना यौं बचन उचारा ॥
हम या जग सौं भए उदासा। अब निज धाम करैंगे वासा ॥
यह षट माँस पहले यौं भाषी। दोय दिनां आगें फिरि आषी ॥

व्याकुलता और अधीरता छा गई। अत्यंत प्रिय व्यक्ति के वियोग से किसे दुख और कष्ट का अनुभव नहीं होता है? शिष्यों ने स्वामी जी से ऐसा न करने की प्रार्थना की--

संत कही गुरु यौं नहीं कीजै। बहुत दिनां लग दरसन दीजै॥

इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया--

स्वामी कही अब होय अनीता। हम नहीं देखें जग विपरीता॥

सतगुरु के इन वचनों को सुनकर संतों ने उनसे शरीर त्याग करने के विषय में पूछा--

संत कहो तौ कैसें करिहौ। यह काया कैसें परिहरिहौ॥

चरनदास जी ने कहा--

स्वामी कही मोहि शक्ति घनेरी। पै मोहि करनी नां इस बेरी॥
भू जल अग्नि समीर नभ मैं करौं ताहि परवेस।
तौ यह तन अस्थूल है पहुँचै नां वा देस॥
जोगेस्वर मारग कह्यौ और शास्त्रन मांहि।
दसवां द्वारा फोरि कैं अगम देस को जाँहि॥

जब महाप्रयाण का समय निकट आया तो चरनदासजी ने जगह को लिपवा लिया और वहीं पर पद्मासन लगा कर बैठ गए। इसके पश्चात् स्वामी जी ने प्राणायाम द्वारा प्राण वायु को दशम द्वार पर चढ़ा लिया। कालांतर में ब्रह्मांड विदीर्ण हो गया और प्रकाश के पुंज में प्राणवायु समाहित हो गई। ब्रह्मांड के विदीर्ण होते ही आकाश में ध्वनि हुई, अनेक प्रकार के वाद्यों के रव से आकाश गुंजरित हो उठा। अनेक मनुष्य इसको देख, सुनकर आश्चर्य में आ गए। इसके अनंतर शिष्यों ने सुगंधित पदार्थ, घृत आदि डालकर चरनदासजी के शरीर का दाह संस्कार किया। चरणदास जी के शरीरपरित्याग का उपचारी जसरामजी ने मार्मिक वर्णन किया है। यहाँ पर उन पंक्तियों को उद्धृत किया जाता है--

अठारहि सै उनतालिया इक दिन प्रातःहीं काल।
जगहि लिपाय आसन कियो प्रानायाँम सँभाल॥
पद्मासन सौं बैठिकैं फोड़ो दसवाँ द्वार।
बाजे बाजन गैंग मैं नभ मैं बहुत प्रकार॥
दामिनि ज्यौं चमको भयो बाजे गगन मझार।
लखत सुनत बहुँ नरन कौं अचिरज भयो अपार॥

अष्ट सुगंध बरषा द्रव्यें उत्सव संतन भीर।
चंदन अरु घृत डारि कै कीनों दाह शरीर॥

इस प्रकार चरनदासजी ने अगहन शुक्लपक्ष की तीज) संवत् १८३९ को क्षणिक नाशवान् शरीर का परित्याग कर अमरलोक की ओर महाप्रस्थान किया।

चरनदासजी की मृत्यु के दो वर्ष पश्चात् सं० १८४१ आषाढ़ कृष्णा पंचमी मंगलवार को इस 'भक्तबावनी' नामक ग्रंथ की रचना जसरामजी ने प्रारंभ कर क्वार मास में समाप्त की थी—

संवत अठारहि से इकताला॥ असाढ महीनें बरषा काला॥
कृष्ण पंचमी मंगलवारा॥ कछुक बादि करी उचारा॥
क्वार महीनें पूरन भई॥ सब संतौ नीकैं सुनि लई॥

प्रस्तुत आख्यान से स्पष्ट है कि जसरामजी में विषय प्रतिपादन एवं वर्णन करने की सराहनीय शक्ति थी। यह संपूर्ण आख्यान केवल १४२ छंदों में वर्णित हुआ है। उपगारीजी का मन चरनदासजी का महत्व और उपदेशों का उल्लेख करने में विशेष रूप से रमा है। कवि का मन आध्यात्मिक प्रसंगों के वर्णन में भी खूब लगा है। इस आख्यान में दोहा, चौपाई छंदों का ही प्रयोग हुआ है। भाषा खड़ी बोली के प्रभाव से युक्त ब्रजभाषा है। जिस हस्तलेख में यह कृति 'भक्तबावनी' लिपिबद्ध है, उसका लिपिकाल सं० १८५५ है। अंत में चरनदासजी के इस आख्यान का माहात्म्य और पुष्पिका इस प्रकार है—

सूछम से कुछ मैं कहे परचे बहुत प्रकार।
जो सब ही बरनन करौं पुस्तक होय विस्तार॥१४०॥
चरणदास श्री गुरु कथा कहै सुनै जो कोय॥
भक्ति होय उज्जल हियो पातग डारै धोय॥१४१॥
भाषा जन जसराम यह करि उन चरननु ध्यौंन।
जो कोई हरि जन गुरमुषी सो सुनि है दे कौंन॥१४२।

'इति श्री भक्त बावनी उपगारी जसराम जी कृत गुरचरनदास आख्यान बर्ननो नाम इको पंचासमो प्रभाव॥५१॥'

प्रस्तुत लेख को तैयार करने में 'परिचयी साहित्य' नामक ग्रंथ से विशेष सहायता मिली है। एतदर्थ ग्रंथ के विद्वान् लेखक डा० त्रिलोकी नारायण जी दीक्षित के प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

—वेदप्रकाश गर्ग

क्या जनमेजय पारीक्षित कुरु का पुत्र था ?

नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६६ अंक ४ में श्री देवेंद्र हाँडा का 'जनमेजय पारीक्षित और उसकी राजधानी' नामक लेख प्रकाशित हुआ है। उक्त लेख में श्री हाँडा ने विभिन्न विद्वानों के विचारों का विश्लेषण कर नवीन सामग्री के आधार पर जनमेजय पारीक्षित तथा उसकी राजधानी विषयक चली आ रही भ्रांतियों को दूर करने की चेष्टा करते हुए, इस संबंध में अपना अभिमत प्रकट किया है।

श्री हाँडा का निष्कर्ष है—'ऐतरेय एवं शतपथ ब्राह्मण ग्रंथों तथा शांखायन श्रौतसूत्र में उल्लिखित जनमेजय पारीक्षित पांडवों से बहुत समय पूर्व हुआ था। उसकी राजधानी आसंदीवत् थी, जिसका समीकरण आधुनिक आसंद से बिल्कुल युक्तिसंगत है। वह महाभारत युद्ध के पश्चात् राज्य करनेवाले जनमेजय पारीक्षित से, जिसकी राजधानी गंगा के तटपर हस्तिनापुर थी, नितांत भिन्न व्यक्ति था।' श्री हांडा ने अपने लेख में ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण ग्रंथों तथा शांखायन श्रौतसूत्र वाले जनमेजय पारीक्षित, जिसे पार्जिटर ने द्वितीय जनमेजय कहा है, को कुरु का पुत्र लिखा है।[1]

श्री हांडा जी का प्रयास स्तुत्य है। उनके विवेचन से कुछ भ्रांतियाँ निर्मूल सिद्ध होती हैं. इसमें कोई संदेह नहीं, किंतु फिर भी मुझे उनके उल्लेखों के विषय में कुछ निवेदन करना है—

१. ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण ग्रंथों तथा शांखायन श्रौतसूत्र में जनमेजय को पारीक्षित लिखा है, जिससे ज्ञात होता है कि उक्त जनमेजय परीक्षित का पुत्र था और तभी वह पारीक्षित कहलाया। श्री हांडा ने उक्त जनमेजय को पारीक्षित लिखते हुए भी कुरु का पुत्र लिखा है। कुरु का पुत्र होने के कारण यह कैसे संभव हो सकता है कि वह पारीक्षित कहलाए ?

१. ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ६६, अंक ४, पृ० ३५।

महाभारत तथा पुराणों की वंशावलियों को टटोलने से पता चलता है कि कुरु-वंश-वृक्ष में दो जनमेजयों का वर्णन प्राप्त होता है। एक कुरु का पुत्र था और दूसरा कुरु का पौत्र अथवा प्रपौत्र। दूसरा जनमेजय ही परीक्षित प्रथम का पुत्र था। यह अभिध्यान का पौत्र तथा कुरु का प्रपौत्र था। कहीं-कहीं इसका वर्णन कुरु के पौत्र के रूप में भी प्राप्त होता है। यही जनमेजय परीक्षित का पुत्र होने के कारण पारीक्षित कहलाता था। इसी पारीक्षित जनमेजय का वैदिक ग्रंथों में उल्लेख प्राप्त होता है। कुरुपुत्र जनमेजय को जनमेजय पारीक्षित अथवा जनमेजय पारीक्षित को कुरु का पुत्र लिखना श्री हाँडाजी का भ्रम है।

२. आसंदीवत् को, श्री हाँडा जी ने, मैकडानेल, कीथ, वासुदेवशरण अग्रवाल तथा अन्य विद्वानों के उल्लेखों के आधार पर जनमेजय पारीक्षित की राजधानी ही स्वीकार किया है, किंतु आसंदीवत् का उल्लेख वैदिक ग्रंथों (ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, शांखायन श्रौतसूत्र) तथा अष्टाध्यायी आदि में एक यज्ञ-स्थल के रूप में ही प्राप्त होता है, राजधानी के रूप में नहीं। अतः यज्ञस्थल आसंदीवत् को जनमेजय पारीक्षित की राजधानी मानना ठीक नहीं है। जनमेजय पारीक्षित की राजधानी तो हस्तिनापुर ही थी, किंतु उन्होंने आसंदीवत् को, जिसका समीकरण श्री हाँडा ने आधुनिक आसंद से किया है और जो युक्तियुक्त है, यज्ञ के लिये चुना था, जैसा कि यज्ञस्थल के रूप में उसका विवरण प्राप्त होता है। यज्ञ के लिये राजधानी के अतिरिक्त अन्य स्थान भी चुना जा सकता है।

३. पृष्ठ ४३ पर लेख की १३वीं पंक्ति (नीचे से चौथी पंक्ति) में 'भी' अनावश्यक है।

४. पृष्ठ ४६ पर लेख की १६ तथा २०वीं पंक्ति में 'के पुत्र' दो बार छपा है, जिससे अर्थ पर प्रभाव पड़ता है। 'के पुत्र' एक बार आना चाहिए।

५. पृष्ठ ४७ पर श्री हाँडा जी ने लिखा है कि—'हम ऊपर देख चुके हैं कि हस्तिनापुर की स्थापना जनमेजय द्वितीय के पूर्वज राजा हस्तिन् ने उससे पर्याप्त समय पूर्व की थी। अतः स्पष्ट है कि हस्तिनापुर, जो उससे कुछ समय पूर्व तक राजधानी था और उसके कुछ समय पश्चात् फिर राजधानी बना लिया गया था, उसके समय में भी वैभवशाली एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रहा होगा।'

श्री हाँडाजी का उपर्युक्त उल्लेख उचित नहीं है और न ही आनुमानिक वाक्य लिखने की आवश्यकता है। जनमेजय द्वितीय के समय में हस्तिनापुर उसकी राजधानी के रूप में वैभवशाली एवं महत्त्वपूर्ण स्थान था। संवरण के द्वारा अपना राज्य पुनः प्राप्त करने के समय से लेकर हस्तिनापुर बराबर राजधानी बना रहा।

—वेदप्रकाश गर्ग

चयन

महाकोसल का सांस्कृतिक रिक्थ

के० डी० वाजपेयी

शोधभारती, खंड एक, भाग १-२, दिसंबर १९६१ में प्रकाशित 'द कल्चरल हेरिटेज आव महाकोशल' निबंध का सार—

हाल में सागर जिले के वन्य भूभाग में सागर विश्वविद्यालय ने उत्खनन का कार्य किया है। यह क्षेत्र निचली पहाड़ियों की लगातार शृंखला में अवस्थित होने के कारण गोदावरी की गोद में स्थित है। चित्रों से अलंकृत आवास यहाँ पर अच्छी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। इन चित्रों में गेरुआ तथा पीताभ रंगों का प्रयोग हुआ है। दृश्यावली में प्रायः शिकार, घोड़सवारी, युद्ध, संगीत, नाट्य आदि का चित्रण किया गया है। बहुतेरे घरेलू दृश्य भी इनमें उपलब्ध हुए हैं। आदमगढ़ (होशंगाबाद के पास) के उत्खनन में प्राप्त शिला आवासों में बहुत से पाषाण के औजार आदि भी मिले हैं, जिनका उपयोग विभिन्न स्तरों पर गुहानिवासी करते थे। इस प्रकार का उत्खननकार्य ऐसे अन्य समान क्षेत्रों में भी अपेक्षित है।

विभिन्न ऐतिहासिक युगों से संबंधित ऐतिहासिक अवशेषों की काफी बड़ी संख्या महाकोशल में है। जबलपुर से प्रायः ३० मील दूर रूपनाथ में अशोक ने अपना एक अभिलेख उत्कीर्ण कराया था। अंबिकापुर जिले की रामगढ़ गुहाओं में अनेक मौर्य शिलालेख ब्राह्मी लिपि में मिले हैं। इन शिलालेखों में नाट्य-रंग-मंचों या प्रेक्षागृहों के संकेत मिलते हैं।

सागर जिले के त्रिपुरी (जबलपुर के पास आधुनिक तेवार) तथा एरण इस क्षेत्र के प्रसिद्ध स्थान हैं। इनमें प्राप्त पंच मार्क तथा अक्षरों वाले सिक्के ३य शती ई० पू० तक पुराने हैं। एरण की सामग्री से ३य-२य शती ई० पू० के धर्मपाल और इंद्रगुप्त जैसे शासकों के नाम प्राप्त हुए हैं।

कुषाण-सातवाहन-काल (१म २य शती ई०) में त्रिपुरी में अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण हुआ था। सागर विश्वविद्यालय द्वारा किए

गए उत्खनन इस से ज्ञात होता है कि १२वीं शती ई० तक त्रिपुरी एक विशाल राजनीतिक तथा सांस्कृतिक केंद्र रहा है।

एरण में किए गए हाल के उत्खनन में एक खाईं तथा मिट्टी की सुरक्षा-प्राचीर का आभास मिला है। एरण के चारों ओर इसका निर्माण प्रायः १५०० ई० पू० के आस पास हुआ था। इस दीवार की चौड़ाई नींव के पास १५४ फुट पाई गई है। इससे यह भी प्रतीत हुआ कि तत्कालीन बस्ती अर्धचंद्राकार थी। तीन ओर से यह बीना नदी के द्वारा तथा एक ओर मिट्टी की इस दीवार के द्वारा रक्षित थी।

इस उत्खनन में प्राप्त सामग्री पर्याप्त समृद्ध है। ताम्र तथा इतिहास कालीन मिट्टी के सामान्य बर्तनों के अतिरिक्त मिट्टी की मूर्तियाँ (टेराकोटा), मनके, कौड़ी, पत्थर के छल्ले, लोहे के विभिन्न उपकरण, पंचयुक्त तथा पश्चिमी क्षत्रपों, नागों और राम गुप्त के सिक्के प्राप्त हुए थे। इस वर्ष प्राप्त एक विशेष महत्व की वह मिट्टी की मुद्रा है जिसपर सिंहनंदि नामक सेनापुलिस के प्रधान का नाम अंकित है।

एरण के उत्खनन से १६०० ई० पू० और ६०० ई० के मध्यवर्ती पूर्वी मालवा और महाकोसल के इतिहास पर नूतन प्रकाश पड़ा है।

ꕥ

निर्देश

हिंदी

भाषा, वर्ष ,५ अंक ३, मार्च १९६६

हिंदी की व्युत्पत्ति—हेमचंद्र जोशी।
हिंदी और तमिल के कारकीय परसर्ग और विभक्तियाँ—अंबाप्रसाद सुमन।
एँ / ओ / ळ / र : द्रविड़ भाषाओं के संदर्भ में—ना० नागप्पा।
पंजाबी भाषा और उपभाषाओं का संबंध—ओमप्रकाश कहोल।

परिशोध (पंजाब विश्वविद्यालय) अंक ३ फरवरी १९६६

हिंदी में कोशनिर्माण की कुछ समस्याएँ कालीचरण स्नेहल।
शकुनों के आलोक में वैदिक धर्म—श्री कृष्णलाल शर्मा 'सूदन'।
भारतीय नैतिक परंपरा—डा० धर्मेंद्र गोयल।
गुरुमुखी लिपि में हिंदी काव्य महिमा प्रकाश—डा० जयभगवान गोयल।

अंगरेजी

शोधभारती (लखनऊ रिसर्च सोसायटी) खंड एक, भाग १–२ दिसंबर १९६५।

नान-एलाइन्मेंट—ए हिस्टारिको-कल्चरल एप्रोच—डा० बुद्धप्रकाश।

प्रस्तुत निबंध में विदेशों के साथ प्राचीन भारत के राजनीतिक, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक संपर्कों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के प्रकाश में वर्तमान गुट-निरपेक्ष नीति का विवेचन है।

ब्रिटिश पालिसी टुवर्ड्स इंडियन स्टेट्स इन द एरा आव इंडियन नैशनैलिज्म—डा० वी० पी० सी० चौधरी।

भारतीय राष्ट्रवादी युग में देशी नरेशों के प्रति अंगरेजी नीति का ऐतिहासिक पर्यालोचन।

कोकोनट (=त्र्यंबक) इन ऋग्वेद इज द ओरिजिन आव् शिव कल्ट—डा० एस० के० गुप्त।

ऋग्वेदीय शब्द 'त्र्यंबक (नारिकेल) से ही शैव धर्म का उदय प्रमाणित करने का उपक्रम इस निबंध में किया गया है।

*

समीक्षा

दूषणोल्लास

मूल— गोविंददास; संपादक—बेनी बहादुरसिंह ; प्रकाशक—हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग; पृ० सं० ८+२५२; प्रथम संस्करण १६६५; मूल्य ६) ।

'दूषणोल्लास' एक संपादित कृति है । इसका संपादन एक ही हस्तलिखित प्रति के आधार पर हुआ है क्योंकि संभव प्रयत्नों के बावजूद अन्यविध सामग्री प्राप्त न हो सकी । इसलिये संपादक के समक्ष यह विवशता थी कि वह उपलब्ध सामग्री और अपने निर्देशक पं० उमाशंकरजी शुक्ल तथा स्वयं की प्रातिभ सूझ-बूझ के सहारे ही प्रस्तुत यात्रा में गतिशील हो । इन्हीं उपकरणों पर आधारित प्रस्तुत कृति का संपादन यथाशक्ति संभव हो सका है ।

संपादन के कारण कृति के असंपादित रूप और संपादित रूप के बीच अवश्य ही कुछ अंतर आ गया है । यह अंतर प्रतिलिपिकार द्वारा उपस्थापित अनेक प्रकार की प्रामादिक त्रुटियों के क्षालनवश आया है, जिसे आना ही चाहिए । संपादक बेनीबहादुरसिंह का ख्याल है कि जो हस्तलिखित प्रति उन्हें उपलब्ध हुई है, उसे प्रतिलिपिकार ने प्रतिलिपि करदेने के बाद मूल प्रति से मिलाया नहीं है । फलतः उपलब्ध हस्तलिखित प्रति में विकृतियाँ अधिक हैं । विकृतियों से भरे हस्तलेख के संपादन में संपादक को **मूल पाठ की रक्षा** का प्रयास करना पड़ता है । एतदर्थ संपादक को अन्य प्रतियों से पाठ मिलान करना पड़ता है, परंतु अन्य प्रतियों के अभाव में पाठ की रक्षा नहीं हो सकी है । फलतः संपादक को बुद्धिबल का सहारा लेना पड़ा है और इस प्रकार प्रतिलिपि की प्रमादजन्य त्रुटियों का संशोधन किया गया है । संशोधन प्रतिलिपिकार की सामान्य लेखन-संबंधी प्रवृत्तियों के अध्ययन के आधार पर हुआ है । संशोधन के इस क्रम में मूल पाठ को कृति से बिलकुल पृथक नहीं कर दिया गया है, प्रत्युत उसे नीचे पादटिप्पणी के रूप में रख दिया गया है, जो उचित ही है । संपादक को संशोधन की आवश्यकता तभी महसूस हुई है जब उसे उपलब्ध पाठ निरर्थक अथवा असंगत ज्ञात हुआ है, अथवा जब असाधारण गतिभंग, छंदभंग या तुकवैषम्य ज्ञात हुआ है । संशोधन की अपेक्षा तब भी जान पड़ी है जब उपलब्ध पाठ से कृति की विचारधारा में अंतर्विरोध अथवा असंगतता प्रतीत हुई है या जहाँ लेखक को

पाठ ज्ञात नहीं हो सका है। अच्छा होता यदि संपादक इन चारों आधारों का सोदाहरण निर्देश करता। वैसे प्रबुद्ध पाठक सब खोज लेता है, पर संपादक के श्रम का निरायास लाभ नहीं उठा पाता।

'पाठ-समस्या' शीर्षक से भूमिका में पाठशोधन के विभिन्न रूपों का उल्लेख हुआ है जिससे पता चलता है कि संपादक को विकृतियों को हटाने में पर्याप्त माथापच्ची करनी पड़ी है। इस माथापच्ची की सार्थकता यह रही है कि कृति का रूप अधिक बोधगम्य हो गया है। संपादक ने यथासंभव श्रमपूर्वक यह भी बताना चाहा है कि किस प्रकार की विकृति प्रस्तुत प्रतिलिपि में कितनी बार हुई है। किसी भी दिशा में आगे बढ़ने की कोई सीमा नहीं है, फिर भी प्रस्तुत कृति के संपादन में संपादक जितनी दूर तक गया है, वह प्रशंसा का विषय है।

'पाठ-समस्या' के अतिरिक्त संपादित कृति की भूमिका में कृति एवं कृतिकार के विषय में अन्य पक्षों से भी विचार प्रस्तुत किए गए हैं। उदाहरणार्थ, कवि का जीवनवृत्त, उसकी रचनाएँ तथा प्रस्तुत कृति की समीक्षा। कवि का जीवनवृत्त उसकी रचनाओं के आधार पर उपस्थापित हुआ है, जो निर्विवाद है। कवि की रचनाओं का भी विभिन्न स्रोतों से पता लगाया गया है और उनका विश्वसनीय विवरण भी प्रस्तुत किया गया है।

'प्रस्तुत कृति की समीक्षा' के संदर्भ में अनेक प्रश्न उठाए गए हैं और स्थापनाएँ भी दी गई हैं। पहला प्रश्न यह है कि 'दूषणोल्लास' गोविंददास की कोई स्वतंत्र कृति है या नहीं? संपादक का दृढ़ विश्वास है कि यह कृति 'रसिक गोविंदानंदघन' का ही तृतीय तथा चतुर्थ प्रबंधांश है—कोई स्वतंत्र कृति नहीं। 'रसिक गोविंदानंदघन' गोविंददास की ही कृति है अतः प्रस्तुत कृति को भी उनकी होने में कोई आपत्ति नहीं है। इस स्थापना में दिए गए तर्क विश्वसनीय हैं। इसी संदर्भ में दूसरा प्रश्न खड़ा किया गया है कि 'दूषणोल्लास' के रूप में किसी अन्य कृति से कुछ अंशों का संग्रह हुआ क्यों? संग्रह के तीन कारण संभावित किए गए हैं -- १. स्वतः कवि ने किसी के अनुरोध से यह लघुसंकलन किया हो, २. अथवा पहले कवि ने इतने ही अंश का निर्माण किया हो और उसकी भी प्रतिलिपिपरंपरा चल पड़ी हो और ३. अथवा किसी प्रतिलिपिकार ने इतने ही अंश की प्रतिलिपिपरंपरा का सूत्रपात प्रमादवश कर दिया हो। संपादक का झुकाव तीसरे पक्ष की ओर अधिक है। पहली दो संभावनाएँ स्वतः गोविंददास से और तीसरी संभावना उनके प्रतिलिपिकार से संबद्ध है। संपादक यदि तीसरी संभावना में आस्थावान है तो उसके कारण का निर्देश अपेक्षित था, पर वह किया नहीं गया। इस तृतीय संभावना के प्रति भी 'जो हो' कहकर अपने स्वर में

संपादक ने दृढ़ता की जगह शिथिलता ही ध्वनित की है। संपादक को इस संदर्भ में अपना मत बताने से पूर्व यह भी विचार करना था कि प्रस्तुत कृति के रूप में आंशिक संग्रह का 'दूषणोल्लास' जैसा नामकरण किसने किया---प्रतिलिपिकार ने अथवा अन्य व्यक्ति ने ? अस्तु।

समीक्षा के संदर्भ में प्रस्तुत कृति के 'महत्व', 'शास्त्रीय पक्ष' तथा 'काव्यपक्ष' भी विवेचित हुए हैं। ध्यान रखने की बात है कि हर कृति के 'महत्व' के साथ उसकी सीमा' भी होती है। तटस्थ समीक्षक को इस पक्ष की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि 'महत्व' का निर्धारण एक तुलनात्मक विवेचन के संदर्भ में होता है---अतः 'महत्व'-निरूपणवाले अंश का यदि कुछ विस्तार होता तो और भी अच्छा था। वैसे जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है वे ठीक ही हैं।

'शास्त्रीय पक्ष' पर विचार करते हुए संपादक ने विभिन्न विद्वानों से अपना मतभेद भी प्रस्तुत किया है। पहला मतभेद आचार्य रामचंद्र शुक्ल से प्रस्तुत ग्रंथ के संपादक का यह है कि जहाँ शुक्ल जी ने 'रसिकगोविंदानंदघन' के दोषविवेचन का आधार 'काव्यप्रकाश' को कहा है, वहाँ इन्होंने साक्षात् 'साहित्य-दर्पण' को और परंपरया 'काव्यप्रकाश' को स्वीकार किया है। अपने पक्ष में संपादक ने जो तर्क दिए हैं, वे इस प्रकार हैं—१. काव्यप्रकाश जैसा दोषों के विस्तार का अभाव, २, काव्यप्रकाशगत दोष-निरूपण-क्रम का अभाव तथा ३. कतिपय विषमताओं के अतिरिक्त साहित्यदर्पण से अधिकांश साम्य। संपादक के ये तर्क तीनों कृतियों के मिलान से ठीक नहीं उतरते। कारण, काव्यप्रकाश की तरह दोषों के विस्तार का यदि दूषणोल्लास में अभाव है तो 'साहित्यदर्पण' की भाँति दोषनिरूपण-विस्तार का सद्भाव भी नहीं है। जहाँ तक दोष-निरूपण-क्रम की बात है मैं समझता हूँ कि तीनों ग्रंथों की तुलना करने पर दूषणोल्लास का क्रम साहित्यदर्पण की अपेक्षा काव्यप्रकाश से कहीं अधिक मेल खाता है। उदाहरणार्थ—

काव्यप्रकाश	साहित्यदर्पण	दूषणोल्लास
श्रुतिकटु	दुःश्रव	श्रुतिकटु
च्युति संस्कृति	अश्लील	संस्कारहत
अप्रयुक्त	अनुचितार्थ	अप्रयुक्त
असमर्थ	अप्रयुक्त	असमर्थ
निहतार्थ	ग्राम्य	निहतार्थ
अनुचितार्थ	अप्रतीत	निरर्थक
निरर्थक	संदिग्ध	अश्लील

अवाचक	नेयार्थ	अनुचितार्थ
अश्लील	निहतार्थ	अवाचक
संदिग्ध	अवाचक	ग्राम्य
अप्रतीत	क्लिष्ट	अप्रतीत
ग्राम्य	विरुद्ध मतिकृत्	संदिग्ध
नेयार्थ	अविमृष्ट विधेयांश	नेयार्थ
क्लिष्ट	निरर्थक	क्लिष्ट
अविमृष्टविधेयांश	असमर्थ	अविमृष्टविधेयांश
विरुद्धमतिकृत्	च्युतसंस्कार	विरुद्धमतिकृत

कोई भी सामान्य ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति ऊपर के तुलनात्मक अध्ययन से शुक्लजी के ही मत से सहमत होगा, न कि प्रस्तुत ग्रंथ के संपादक से।

इतना ही नहीं, संपादक का यह कहना भी है कि 'साहित्यदर्पण में १३ पददोषों का वर्णन है, इस ग्रंथ में १६ दोषों का। इसमें तीन दोष १–संस्कारहत २–असमर्थ और ३–निरर्थक अधिक हैं' (पृ० १६)। किंतु यह वक्तव्य भी नितांत भ्रांतिपूर्ण है। साहित्यदर्पण में 'पददोष' के संदर्भ में पहले १३ ऐसे दोषों का उल्लेख है—जो पद एवं वाक्य दोनों में पाए जा सकते हैं किंतु बाद में केवल पद-गत उन्हीं तीन दोषों का उल्लेख किया गया है, जिनका संपादक ने साहित्यदर्पण में अभाव कहा है। वे तीन दोष हैं—

'निरर्थकासमर्थत्वं च्युतसंस्कारता तथा' (सा० द० ७।३) निरर्थकत्व, असमर्थत्व एवं च्युतसंस्कारता। च्युतसंस्कारता एवं 'दूषणोल्लास' का 'संस्कारहत'–एक ही हैं, कारण यह कि व्याकरण-विरुद्धत्व ही उभयत्र दोष निरूपित हुआ है।

इसी प्रकार संपादक का यह कहना भी—'साहित्यदर्पण में केवल २० वाक्य-दोषों का वर्णन है जब कि इस ग्रंथ में २३ का वर्णन है। यहाँ पर १. व्यर्थ, २. अपार्थ एवं ३. व्याहत अधिक हैं।'—भ्रामक ही है। 'दूषणोल्लास' के 'व्यर्थ, अपार्थ एवं [अ] व्याहत'—तीनों ही वाक्यदोष नहीं, प्रत्युत अर्थदोष हैं। अतः उन्हें वाक्यदोष में गिनना सर्वथा अनुपयुक्त है। साहित्यदर्पण में २१ वाक्यदोष एवं २१ ही अर्थदोष कहे गए हैं जब कि 'दूषणोल्लास' में १८ वाक्यदोष एवं २१ अर्थदोष हैं। संपादक का यह कहना भी बहुत संगत नहीं है कि 'रसदोष में प्रायः दोनों में समानता है'। क्योंकि दूषणोल्लास में १० रसदोष एवं ६ नाट्यदोष कहे गए हैं जब कि दर्पण में १४ रसदोषों की गणना है जिनमें अधिकांश 'दूषणोल्लास' के नाट्यदोष भी आगए हैं।

निष्कर्ष यह कि इन भ्रांतिपूर्ण वक्तव्यों के आलोक में संपादक के साथ इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता कि दूषणोल्लास का दोषनिरूपण काव्यप्रकाश की

अपेक्षा साक्षात् 'साहित्यदर्पण' से लिया गया है। दूसरी बात यह भी है कि 'दूषणोल्लास' के आरंभ में 'दोष' का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है—वह 'काव्यप्रकाश' के ही अनुरूप है, 'साहित्यदर्पण' के नहीं। 'काव्यप्रकाश' में 'मुख्यार्थहति' को दोष कहा गया है और 'दूषणोल्लास' में भी 'मुख्यार्थ कौं न्यून करै सो दोष' यही कहा गया है न कि 'साहित्यदर्पण' की भाँति 'रसापकर्षका दोषाः' का रूपांतर प्रस्तुत हुआ है।

'गुणनिरूपण' के प्रसंग में भी 'दूषणोल्लास' में जो कुछ कहा गया है—वह आँख मूँदकर 'साहित्यदर्पण' के अनुसार नहीं माना जा सकता। साहित्य-दर्पणकार ने यह अवश्य कहा है कि गुण एवं अलंकार रस के उत्कर्षक हैं, पर अंतर यह है कि जहाँ गुण शूरवत्व की भाँति रसरूप आत्मा के धर्म हैं वहाँ अलंकार हार आदि की भाँति अंग या शरीररूप शब्दार्थ के धर्म हैं। इसके साथ साहित्यदर्पणकार ने दूषणोल्लासकार की भाँति यह नहीं माना है कि गुण और अलंकार में यह अंतर है कि पहला समवाय संबंध से और दूसरा संयोग संबंध से रहता है। वस्तुतः 'समवाय' एवं 'संयोग' के सहारे गुण एवं अलंकार का अंतर प्राचीन अलंकारिकों ने किया है—जिसका पूर्वपक्ष के रूप में काव्यप्रकाश में उल्लेख हुआ है। दूषणोल्लासकार ने काव्यप्रकाशकार तथा प्राचीन आलंकारिक दोनों के भेदकतत्वों को मिला दिया है। संपादक को इस वैशिष्ट्य को लक्षित करना था।

हाँ, अलंकारनिरूपण के संदर्भ में डा० नगेंद्र का खंडन करते हुए जो यह कहा गया है दूषणोल्लास के अलंकारविवेचन का आधार चंद्रालोक नहीं, अप्पय दीक्षित का कुवलयानंद है, वह कुछ दूर तक सही जान पड़ता है। कारण यहाँ रूपक के 'तद्रूप' एवं 'अभेद' तथा प्रत्येक के सम, अधिक एवं न्यून जैसे जो भेद कहे गए हैं—वे कुवलयानंद में ही हैं, चंद्रलोक में नहीं। इसी प्रकार गुलाबराय से जो अपना मतभेद प्रकट किया गया है, वह भी युक्तिसंगत है।

इस प्रकार संपादक का ग्रंथसंपादन एवं भूमिकालेखन कतिपय त्रुटियों एवं मतभेदों के बावजूद एक श्रमसाध्य प्रयास है जिसके लिये संपादक की प्रशंसा की जानी चाहिए।

—राममूर्ति त्रिपाठी

अपभ्रंश भाषा का अध्ययन

लेखक—वीरेंद्र श्रीवास्तव; प्रकाशक—भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा दिल्ली; पृष्ठ संख्या २+१२+३०१; १९६५; मूल्य १२)।

प्रस्तुत ग्रंथ डा० वीरेंद्र श्रीवास्तव की डी० लिट्० की थीसिस का प्रकाशित रूप है। पिछले साठ पैंसठ वर्षों से अपभ्रंश भाषा और साहित्य का अध्ययन

किसी न किसी रूप में होता आरहा है। जर्मन भाषाविद् पिशेल और हर्मन याकोबी जैसे विद्वानों ने इस विस्मृत भाषा और साहित्य के बारे में ध्यान आकृष्ट कराया था। वैसे तो अपभ्रंश भाषा का उल्लेख भारतीय वाङ्मय में अनेकशः हुआ है; पर अरसे तक इसे एक लुप्तप्राय मृत भाषा मानकर भारतीय भाषा अनुसंधित्सु अपनी जिज्ञासा को विराम दे चुके थे। योरोपीय पंडितों के द्वारा ध्यान आकृष्ट किए जाने पर और बीसवीं शती के प्रथम चरण में अनेक दुर्लभ ग्रंथों के प्रकाश में आने के बाद इस महत्वपूर्ण शृंखला के संधान और नियोजन का प्रयत्न आरंभ हुआ। इस दिशा में उपर्युक्त दो योरोपीय पंडितों के अलावा डा० दलाल, गुणे, मुनि जिनविजय, राहुल सांकृत्यायन, भायाणी, पी० एल० वैद्य, शहीदुल्ला, डा० हीरालाल जैन, उपाध्ये, तगारे, अलफ्रेड मास्टर्स, हजारीप्रसाद द्विवेदी, आदि देशी-विदेशी विद्वानों ने भाषा और साहित्य के दोनों ही पक्षों को दृष्टि में रखकर अपभ्रंश के अध्ययन को सातत्य प्रदान किया। अपभ्रंश को प्राचीन हिंदी साहित्य की प्राणधारा कहा गया। मध्यकालीन आर्यभाषा के अध्ययन के लिये अपभ्रंश एक अनिवार्य कड़ी सिद्ध हुई।

यह सब होने पर भी अभी तक अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन को बहुत ठोस आधार नहीं मिल सका है। कारण मुख्यतया अपभ्रंश के महत्वपूर्ण आकर ग्रंथों के सुसंपादित संस्करणों का अभाव था। डा० उपाध्ये, डा० ही० ला० जैन, भायाणी, मुनि जिनविजय आदि बहुत थोड़े से विद्वान इस दिशा में प्रयत्नशील रहे हैं और इनके प्रयत्नों से अपभ्रंश के, विशेषतः जैन अपभ्रंश के अनेक ग्रंथ वैज्ञानिक ढंग से संपादित होकर प्रकाश में आते रहे हैं। पिछले दस पंद्रह वर्षों से राजस्थान, गुजरात आदि के जैन हस्तलेख-भांडारों की सूचियाँ प्रकाश में आरही हैं। इनसे पता चलता है कि अभी तक अपभ्रंश का जो साहित्य प्रकाश में आया है, वह अप्रकाशित राशि का न्यूनांश ही है। १९४४ ई० में प्रो० हरि दामोदर वेलणकर ने जिनरत्नकोश प्रकाशित कराया था। उसमें सूचित ग्रंथ भी आज तक प्रकाशित नहीं हो सके। राजस्थान-गुजरात में प्राप्त विपुल साहित्य की तो बात ही क्या ?

ऐसी हालत में अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन को जो त्वरता मिलनी चाहिए थी, वह नहीं मिल सकी।

अपभ्रंश भाषा के अध्ययन की दिशा में कुछ प्रगति अवश्य हुई। पिशेल से लेकर तगारे तक ने भाषाविषयक जो कार्य किया, उससे इस प्रकार के अध्ययनों के लिये एक ठोस पीठिका तैयार हो गई है, इसमें संदेह नहीं। इन

अध्ययनों के सिलसिले में स्वाभाविक रूप से कई प्रश्न उठ खड़े हुए उदाहरण के लिये अपभ्रंश का ऐतिहासिक काल क्या माना जाय? अपभ्रंश कहाँ की भाषा थी? इसके परिनिष्ठित और क्षेत्रीय रूपों का निर्णय कहाँ तक संभव है। अपभ्रंश से आभीरों का क्या संबंध था। अपभ्रंश के बारे में मध्यकालीन वैयाकरणों ने जो विचार दिए हैं वे कहाँ तक प्रामाणिक और अप्रामाणिक है। अपभ्रंश से नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का क्या संबंध है? क्या आज की प्रत्येक भारतीय आर्य भाषा के लिये उसकी पूर्वज अपभ्रंश का रूप निश्चित किया जा सकता है अथवा वैसे रूपों में लिखा साहित्य उपलब्ध होता है। क्या अपभ्रंश कभी जनभाषा थी? अपभ्रंश और देश्य भाषा के बीच के संबंधों का विश्लेषण क्या संभव है? ये प्रश्न अपभ्रंश पर शोध करनेवाले प्रत्येक अनुसंधित्सु से टकराते हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रस्तुत शोधग्रंथ इन प्रश्नों का उत्तर देने में सफल हुआ है? मेरा ख्याल है कि ये प्रश्न इस शोधग्रंथ के साथ नहीं उठने चाहिए, क्योंकि यह शोधग्रंथ अपभ्रंश भाषा का विवरणात्मक भाषा-वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत करता है, उक्त भाषा के सभी पहलुओं का विश्लेषण नहीं। यह अपभ्रंश भाषा का परिश्रमपूर्वक लिखा हुआ व्याकरण है। इस व्याकरण को प्रस्तुत करने में लेखक ने भाषा अध्ययन की आधुनिक पद्धति का प्रयोग किया है यानी ध्वनितत्त्व तथा रूपतत्त्व के प्रचलित ढाँचों में अपभ्रंश को जाँचने का प्रयत्न किया गया है; साथ ही प्राकृत वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत सामग्री को भी बहुत अच्छी तरह प्रयुक्त किया गया है। इस शोध का सबसे बड़ा महत्त्व यही है कि लेखक ने मध्यकालीन प्राकृत व्याकरणों और बीसवीं शती में होने वाले अपभ्रंश भाषा संबंधी "स्ट्रक्चरल" अध्ययनों का बहुत अच्छा समन्वित उपयोग किया है।

ग्रंथ के आरंभ में 'अपभ्रंश भाषा और उसका अध्ययन' शीर्षक बयालीस पृष्ठों की एक भूमिका है। इस भूमिका में अपभ्रंश व्याकरण के बाहर के कुछ अहम् सवालों को, जिनका मैंने ऊपर जिक्र किया है, सरसरी तौर से छुआ गया है। अपभ्रंश शब्द का प्रयोग निर्विशिष्ट भाषा, अलंकार और अपभ्रंश, प्राकृत वैयाकरण और अपभ्रंश, साहित्य और अपभ्रंश, देशी भाषा और अपभ्रंश, अपभ्रंश और आभीर, अपभ्रंश और गुर्जर तथा अन्य जनजातियाँ, अपभ्रंश भाषा की प्रकृति, अपभ्रंश भाषा का वर्गीकरण, अध्ययनार्थ आधार, तथा अपभ्रंश के अध्ययन की आवश्यकता, संपादित कार्य और प्रबंध की पद्धति आदि शीर्षकों में अपभ्रंश भाषा की पूर्वपीठिका उपस्थित की गई है।

आभीरों के साथ अपभ्रंश का संबंध प्राचीन काल से ही माना जाता रहा है; पर अपभ्रंश के विकास में आभीरों का निश्चित रूप से क्या योगदान था, इसे स्पष्ट करना बहुत कठिन है। अपभ्रंश को 'आभीरोक्ति' कहा गया है यह भी अपभ्रंश के प्रति संस्कृत पंडितों के असौजन्य का ही प्रमाण है। आभीर संस्कृत नहीं जानते थे, उन्होंने जनभाषा अपभ्रंश को सीखा होगा, कुछ अपने निजी सांस्कृतिक शब्दों को उसमें मिलाजुला कर वे उसका प्रयोग करते रहे होंगे। बाद में आभीरों के प्रभाव की वृद्धि के साथ ही अपभ्रंश की प्रतिष्ठा भी बढ़ी। आभीर विदेशी थे, भारतीय पंडित उनके संसर्ग से विकसित संस्कृतेतर जनभाषा को आदर की दृष्टि से नहीं देखते रहे होंगे। अपभ्रंश और आभीरों के विषय में ऐसी कल्पनाएँ की जा सकती हैं। यह भी कहा जा सकता है कि "देशी नाममाला में आभीरपल्ली और पशुपालन से संबद्ध अनेक देशी शब्द इसकी पुष्टि करते हैं।" [पृष्ठ २६]; किंतु इन प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि "अपभ्रंश भाषा के विकास में आभीर गुर्जर आदि जातियों के योग का परिणाम विभक्तिक्षरण भी था।" [पृष्ठ १२४] यह एक निराधार कल्पना मात्र है। विदेशी जब किसी भाषा को सीखते हैं तो उसमें अपनी शब्दावली का प्रयोग जरूर करते हैं; व्याकरणिक गठन को सीखने में कठिनाई भी होती है; पर इसके कारण विभक्तिक्षरण होता है यह तर्क अवैज्ञानिक है। न तो खड़ी बोली में, जिसे मुसलमानों ने सीखा और उर्दू का रूप दिया और न तो अंगरेजों या योरोपियों द्वारा सीखी गई अन्य भारतीय भाषाओं में ही विदेशी संपर्क से विभक्तिक्षरण हुआ। विभक्तिक्षरण मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा में बहुत व्यापक पैमाने पर हुआ है। यह मभाआ की बहुत महत्वपूर्ण प्रवृत्ति थी इसके लिये इतना सहज कारण ढूँढ़ निकालना समस्या का सरलीकरण ही कहा जायगा।

अपभ्रंश के ऐतिहासिक कालविभाजन और उसके क्षेत्रीय वर्गीकरण का प्रश्न भी विद्वान लेखक ने उठाया है। किंतु इन प्रश्नों पर उन्होंने बहुत स्पष्ट धारणा नहीं रखी है। परिणामतः इस प्रबंध में अपभ्रंश भाषा के ध्वनि और रूप के अध्ययन के सिलसिले में ऐतिहासिक कालक्रम का समुचित संयोजन नहीं दिखाई पड़ता। यानी वे पउमचरिउ, णायकुमारचरिउ, पाहुडदोहा, हेमव्याकरण के दोहे, संदेशरासक, कीर्तिलता, दोहाकोश, कीर्तिपताका, उक्तिव्यक्ति-प्रकरण आदि को एक ही वर्ग में गृहीत कर लेते हैं। इससे दो तरह की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। स्पष्ट ही कीर्तिलता, कीर्तिपताका, राउरवेल, चर्यागीत, उक्तिव्यक्तिप्रकरण आदि की भाषा में मध्यकालीन प्राच्य आर्य भाषा के तत्त्व मिलते हैं, जो परिनिष्ठित अपभ्रंश से अलग पड़ते हैं। दूसरी ओर की० ल०

चर्यागीत, उक्तिव्यक्तिप्रकरण आदि की भाषा १३ वीं० १४ वीं शताब्दी की है, जिसमें कई तरह के परवर्ती व्याकरणिक विकास के तत्त्व परिलक्षित होते हैं। एक उदाहरण देकर मैं इसे स्पष्ट करूँ। पृष्ठ २१७ पर क्रियापरिच्छेद में संयुक्तकाल पर विचार किया गया है। धातुव्यापार की धारावाहिता के बोधन के लिये शतृ प्रत्ययांत शब्द के साथ सत्तावाचक सहायक क्रिया के योग से बननेवाले संयुक्त कालिक रूपों के जितने भी उदाहरण हैं [करीब ८] वे सभी उक्तिव्यक्ति और कीर्तिलता से लिए गए हैं जबकि इस प्रकरण में (संयुक्त काल) कहीं भी यह नहीं बताया गया है कि ये रूप परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी मिलते हैं अथवा नहीं। काल और क्षेत्र की स्पष्ट सीमा निर्धारित न होने के कारण अपभ्रंश के पूर्वी और पश्चिमी रूपों का स्पष्ट अंतर भी अविवेचित रह गया है। मैं मानता हूँ कि अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेदों का आधार बहुत अवैज्ञानिक और दुर्बल रहा है। तगारे का पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी भेद भी निराधार सा ही है। अलफ्रेड मास्टर ने बी० एस० ओ० ए० एस०, खंड १५, भाग २ में बहुत पहले क्षेत्रीय भेदों को बिल्कुल निराधार बताया था, पर यदि अपभ्रंश की ही सीमा में कीर्तिलता और कीर्तिपताका, तथा उक्तिव्यक्तिप्रकरण और राउरवेल जैसी परवर्ती रचनाओं को भी स्वीकार किया जायगा, तो क्षेत्रीय भेदों को एकदम नकार देना संभव न हो सकेगा। क्योंकि १२ वीं शताब्दी तक आते आते अपभ्रंश रूढ़ साहित्यिक भाषा मात्र रह गई थी; बाद की रचनाओं में, खास तौर से उपर्युक्त रचनाओं में, अग्रसरीभूत अपभ्रंश के साथ ही साथ क्षेत्रीय उक्ति के तत्त्व प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं।

इस प्रबंध के दूसरे खंड के पहले और दूसरे अध्यायों में ध्वनितत्व के सिलसिले में अपभ्रंश के स्वरों और व्यंजनों का बहुत विशद विवेचन है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि बावजूद इसके कि लेखक ने अत्याधुनिक ध्वनिविज्ञानसंबंधी पद्धति का उपयोग नहीं किया है, अपभ्रंश ध्वनितत्व का उनका यह अध्ययन बहुत ही समृद्ध और महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रमुख कारण यह है लेखक संस्कृत ध्वनिशिक्षा का बहुत प्रामाणिक ज्ञान रखता है, परिणामतः भारतीय ध्वनिशिक्षण की पद्धति का खूब उपयोग किया गया है और फलतः यह अंश असंदिग्ध महत्व की चीज हो सकी है। नई पद्धति से अपभ्रंश ध्वनियों का अध्ययन करनेवालों के लिये यह अंश एक अपरिहार्य संबल होगा, इसमें संदेह नहीं। कहीं कहीं एकाध स्थलों पर पुनर्विचार की जरूरत भी लगती है। उदाहरण के लिये पृष्ठ ४८ पर ऋ के परिवर्तनों के सिलसिले में ऋ का परिवर्तन अर् में बताते हुए उदाहरण दिया गया है—हरिसिउ < हृष्ट। स्पष्ट ही यहाँ ऋ का अर् नहीं है। हरिसिउ की व्युत्पत्ति है हर्ष

स्वरभक्ति > हरिस + इंउ < हंत। यह असावधानी मूलतः शायद हीरालाल जैन के णायकुमारचरिउ में हुई थी। लेखक ने पृष्ठ ४८ पर स्वरभक्ति के उदाहरणों में वरिस < वर्ष और हरिस < हर्ष भी दिया है। पृष्ठ ६० पर कड्ढ को देशी कहा गया है। क्या इसे कर्ष से व्युत्पन्न मानना समीचीन नहीं है?

पृष्ठ ६१-६२ पर 'न' के 'ण' परिवर्तनों के प्रकरण में प्राच्य अपभ्रंश में न की प्रधानता के लिये संस्कृत पुनर्जागरण को कारण माना गया है। आज भी बिहार में ण के लिये प्रायः न बोलते हैं। क्या संस्कृत पुनर्जागरण के अलावा कुछ और भी कारण हो सकते हैं, इस पर भी विचार की गुंजायश लगती है।

तीसरा खंड रूपविज्ञान का है। इसमें संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, धातुरूप और अव्यय के शीर्षकों में अपभ्रंश रूपतत्व का सम्यक विश्लेषण किया गया है। इन अध्यायों के लेखन में भी लेखक के परिश्रम, विवेक और सूझ-बूझ की छाप सर्वत्र अंकित है। कहीं कहीं प्रामाणिक आधार की जगह निराधार कल्पना (स्पेकुलेशन) को प्रश्रय मिलता सा लगता है। गोरडी, अन्तडी आदि शब्दों में स्वार्थिक डी प्रत्यय है: किंतु इनके आधार पर यह कहना कि आधुनिक हिंदी प्रत्यय कोमलता, लघुता या हीनता को बोधित करने के लिये हमेशा ही सार्थक पदों में संयुक्त होता है, जैसा कि गोरडी (गोरी) अँतडी (अँतड़ी) में किंतु झाड़ी और लकड़ी में झा और लक की जब तक सार्थक व्युत्पत्ति नहीं ढूँढ ली जाती, इनके अंत में प्रयुक्त 'डी' को स्वार्थिक प्रत्यय मान लेना वैज्ञानिक नहीं लगता।

इस प्रबंध का चौथा खंड यानी अर्थविज्ञान अपने तरह का एकदम मौलिक और नूतन प्रयत्न है। यहाँ अपभ्रंश शब्दों में उत्पन्न अर्थपरिवर्तनों को बहुत सूक्ष्म स्तर पर स्पष्ट किया गया है। ध्वन्यात्मक शब्दों का निर्माण, धातुओं का अर्थातिशय योग तथा देशी शब्दों के तीन प्रकरणों में अर्थपरिवर्तन की प्रक्रिया का बहुत अच्छा विवेचन किया गया है। हेमचंद्र की देशी नाममाला अथवा धनपाल की पाइअलच्छी की भूमिकाओं में तथा अन्यत्र भी ये विचार दिए गए हैं कि इनमें संकलित अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत से खोजी जा सकती है। विद्वान लेखक ने इस खंड में संस्कृत से निःसृत किंतु अपभ्रंश में आकर पूर्णतः भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेनेवाले शब्दों को देशी मानने के पक्ष में बहुत महत्वपूर्ण तर्क दिया है। 'यदि संस्कृत और प्राकृत में जिन अर्थों में शब्द प्रचलित रहे थे, उनसे वे सर्वथा भिन्न हो गए ये अर्थ उन शब्दों द्वारा कभी संस्कृत और प्राकृत साहित्य में अभिहित ही नहीं हुए और केवल लोक के किसी स्तर पर चालू रहकर अपभ्रंश में और उसके साहित्य में समाविष्ट हो गए तो उन्हें देशी ही समझना चाहिए।' (पृ० २५१) मेरा ख्याल है कि हेमचंद्राचार्य पर संस्कृत-निःसृत शब्दों को भी देशी मान लेने

के कारण जो आरोप लगाया जाता है, उसका इससे अधिक अच्छा उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह अलग बात है कि अर्थपरिवर्तित शब्दों को देशी शब्दावली में गृहीत करना आधुनिक भाषावैज्ञानिक दृष्टि से फिर भी विवेच्य रह ही जाता है। अपभ्रंश का अर्थविज्ञान की दृष्टि से प्रस्तुत यह अध्ययन निश्चय ही एक नई दिशा का द्वार उन्मुक्त करता है।

इतने अच्छे शोधग्रंथ में भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिये स्वीकृत आधाररूप शब्दों के संदर्भ देने में बरती गई शिथिलता खटकती है। लेखक ने कौन शब्द किस ग्रंथ में प्रयुक्त हुआ है यह तो दे दिया है; किंतु किस अध्याय और पंक्ति में उसका प्रयोग हुआ है, यह सर्वत्र नहीं दिया गया है जबकि उनके द्वारा स्वीकृत सभी आकर ग्रंथों के संपादित पाठों के अंत में अच्छी खासी शब्दसूची भी मिल जाती है।

अंत में यह कहना अब शायद आवश्यक नहीं रह जाता कि डा॰ वीरेंद्र श्रीवास्तव का यह शोधग्रंथ अपभ्रंश और मध्यकालीन आर्यभाषा के शोधकर्ताओं के लिये अत्यंत मूल्यवान उपलब्धि है। मेरी दृष्टि में अपभ्रंश का इससे अधिक समृद्ध और परिश्रमपूर्ण ढंग से लिखा हुआ विवरणात्मक व्याकरण दूसरा नहीं आया। मैं इस श्लाघनीय शोधकार्य के लिये विद्वान लेखक का साधुवाद करता हूँ।

—शिवप्रसाद सिंह

कबीर

संपादक—विजयेंद्र स्नातक, एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰, रीडर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय; प्रकाशक—राधाकृष्ण प्रकाशन, ४–१४ रूपनगर, दिल्ली ७; १९६५; मूल्य १) २५, पक्की जिल्द ८) २५।

इस ग्रंथ का संपादन मूल्यांकन ग्रंथमाला के अंतर्गत किया गया है। संपादक ने बताया है कि कबीर के अप्रतिम व्यक्तित्व को एक ही पुस्तक में अधिकारी विद्वानों की रचनाओं द्वारा प्रस्तुत करने का अल्प प्रयास किया गया है। कबीर के जीवनवृत्त, निर्गुण संप्रदाय, कबीर पंथ, व्यक्तित्व, रचनाएँ, रहस्यवाद, सिद्धांत और साधना, भारतीय धर्मसाधना में कबीर का स्थान, आस्था और साधना, अभिव्यंजनाकौशल, उलटबाँसियाँ, योगमार्ग, प्रतीकयोजना, कबीर और बौद्धमत, आदि विषयों पर डा॰ श्यामसुंदरदास, डा॰ बड़थ्वाल, पं॰ हरिऔध, डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा॰ वर्मा, पं॰ परशुराम चतुर्वेदी, डा॰ मोतीसिंह, डा॰

गोविंद त्रिगुणायत, डा० सरनामसिंह शर्मा, श्री शिवशंकर शर्मा, श्री महेंद्रकुमार, श्री ओमप्रकाश आदि के लेख इसमें संपादित हैं। इस सूची से ही स्पष्ट है कि डा० श्यामसुंददास, डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, के लेखों का ऐतिहासिक महत्व है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० परशुराम चतुर्वेदी, और डा० रामकुमार वर्मा की स्थापनाएँ अब स्थिर हो चुकी हैं। अन्य लेखक उपयुक्त लेखकों की स्थापनाओं के पोषण, संवर्धन आदि में दत्तचित्त हैं। इस संग्रह में 'कबीर और बौद्धमत' पर एक लेख है जब कि आवश्यकता थी 'नाथ संप्रदाय और कबीर' की। बौद्धों से कबीर का कोई सीधा संबंध नहीं था। वैसे सहजयानी बौद्धों की भी साधना भारतीय तांत्रिक साधना के ही अंतर्गत थी किंतु संपूर्ण संग्रह में भारतीय तांत्रिक साधना के पारिपार्श्व में कहीं भी कबीर का विचार नहीं किया गया है और न नाथों से कबीर के विविध प्रकार के संबंधों पर ही कहीं एकत्र विचार है। संपूर्ण संग्रह को देखजाने के बाद हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव कुछ खटका। डा० गोविंद त्रिगुणायत के अभिव्यंजना-कौशल संबंधी लेख में सामग्री और विश्लेषण की उत्कृष्टता है। डा० सरनामसिंह शर्मा का लेख विश्लेषण और विवेचन की दृष्टि से उत्तम कोटि का है किंतु इसमें भी वैदिक और बौद्ध अभिव्यक्ति-पद्धति के प्रति मोह बना हुआ है। भारतीय चिंता, साधना और अभिव्यक्ति के निर्माण में तंत्र का भी योगदान कम नहीं है। कबीरसाहित्य के विवेचक अभी भी इस निर्जीव स्थापना के पोषण में लगे हुए हैं कि नाथ लोग बौद्ध थे और बौद्धों की साधना के बहुत से तत्व नाथों के माध्यम से कबीर को मिले। कबीर की भक्ति और योग दोनों का विचार भारतीय भक्तिसाहित्य के ही प्रकाश में किया जाना चाहिए। रहस्यवाद-संबंधी लेख में हमें आशा थी कि सूफियों के रहस्यवाद के प्रभाव को कबीर-साहित्य से प्रमाण देकर दिखाया जायगा। यह तो प्रशंसनीय है कि इसके लेखकों की दृष्टि कबीरसाहित्य के विभिन्न पक्षों के सूक्ष्म और गंभीर विवेचन में लगी रही किंतु इसके साथ ही भक्तिकालीन साहित्य के व्यापक परिपार्श्व के प्रति उदासीनता भी कम खटकनेवाली बात नहीं। चतुर्वेदी जी के सिद्धांत और साधना संबंधी लेख में अभी तक के बहुत से विवादास्पद बिंदुओं पर भी एक निष्कर्ष तक पहुँचने का कार्य स्तुत्य है और कबीर की भक्तिपद्धति के विचार के लिये नारदी भगति की ओर संकेत भी बहुत महत्वपूर्ण है। हमें विद्वानों से इसके भाष्य की अपेक्षा है। फिर भी यह संग्रह अत्यधिक मूल्यवान है और कबीरसाहित्य के प्रत्येक अध्येता के लिये अवश्य ही संग्रहणीय है।

—नागेंद्रनाथ उपाध्याय

हिंदी के स्वीकृत प्रबंध—१६१०-१६६२

संपादक कृष्णाचार्य ; प्रकाशक—आर्यावर्त प्रकाशन गृह, कलकत्ता-१२; पृ० सं० १३७; प्रथम संस्करण १९६४; मूल्य ७)।

आलोच्य पुस्तक के आमुख में जहाँ एक ओर शोधकार्य से संबंधित कुछ उपयोगी सूचनाएँ दी गई हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है। सूचनात्मक अंश में योरप और भारत में प्रबंधलेखन का सूत्रपात, अंगरेजी हिंदी में प्रबंध लेखन संबंधी उपयोगी साहित्य की संक्षिप्त तालिका, हिंदी के प्रबंधलेखन का विकासक्रम आदि विषय आते हैं। विशेषज्ञों के मतों के उद्धरण देते हुए श्रीकृष्णाचार्य ने इन विषयों को थोड़े में बहुत कुशलतापूर्वक रख दिया है। कहीं-कहीं अंगरेजी के लंबे लंबे उद्धरण बिना हिंदी अनुवाद के ही दिए गए हैं। अच्छा होता यदि संदर्भ निर्देशपूर्वक उनका सारांश ही हिंदी में दिया जाता। कुछ अंगरेजी शब्दों के हिंदी पर्यायवाची शब्द बहुत अच्छे बन पड़े हैं जैसे बिबिलियोग्राफी के लिये ग्रंथपुटी, एंट्री के लिये प्रविष्टि, क्रासरेफ़रेंस के लिये आंतर संदर्भ आदि। किंतु कुछ अनुवादों के साथ सहमत होना कठिन है जैसे अंडरस्टैंडिंग के लिये ग्रहणबोध, वेरिएबुल्स के लिये भेद, प्रेग्मेटिक के लिये तथ्यखोजी आदि। थीसिस के लिये प्रबंध शब्द का प्रयोग बहुत संतोषजनक नहीं है। प्रबंध एक साधारण शब्द है और किसी भी विषय पर क्रमबद्ध रूप से लिखे दीर्घ निबंध के लिये उसका प्रयोग होता रहा है। थीसिस के लिये प्रस्तुत संदर्भ में शोधप्रबंध, अधिनिबंध आदि शब्द प्रचलित हैं जिनमें शोधप्रबंध अधिक सार्थक है। इसी तरह पूर्ण विराम के लिये पुस्तक में सर्वत्र खड़ी पाई की जगह बिंदु (·) का प्रयोग किया गया है जिसका औचित्य विवादास्पद ही है।

विद्वान लेखक ने जिन दो महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, वे हैं अप्रकाशित प्रबंधों की समस्या तथा प्रबंधों के वर्गीकरण की समस्या। अप्रकाशित प्रबंधों एवं उनके लेखकों के बारे में सूचनाएँ कितनी कठिनता से मिल पाती हैं और उनमें कितनी भ्रांतियाँ रह सकती हैं, इसका सोदाहरण उल्लेख करते हुए इस समस्या को सुलझाने के लिये लेखक ने अत्यंत समीचीन राय दी है कि 'किसी केंद्रीय संस्था को अप्रकाशित ग्रंथों की सूची बनवानी चाहिए।'

संदर्भग्रंथ की उत्कृष्टता की कसौटी यह है कि अभीष्ट सूचना शीघ्र एवं प्रामाणिक रूप से प्राप्त हो सके। इस दृष्टि से यह पुस्तक अत्यंत प्रशंसनीय है। वर्णानुक्रम के अनुसार आरंभ में वर्गानुक्रम है, जिसमें सूचक अंक प्रविष्टि संख्या के हैं। वर्गों के अंतर्गत उपवर्ग भी वर्णानुक्रम के अनुसार हैं जैसे साहित्यकार : व्यक्ति-

विशेष वर्ग के अंतर्गत अनुसंधानित साहित्यकारों के नाम भी वर्णानुक्रम दिए गए हैं। यदि किसी साहित्यकार विशेष पर एकाधिक अनुसंधान कार्य किए गए हैं तो उन्हें वर्णानुक्रम से एक ही स्थान पर संगृहीत कर दिया गया है। उस व्यक्ति या विषय से संबंधित अन्य शोधप्रबंध अपनी अन्य विशेषताओं के कारण भिन्न वर्ग या वर्गों में रखे गए हैं तो उनके आंतर संदर्भ दे दिए गए हैं। जहाँ तक संभव हुआ है अनुसंधानकर्ताओं के नाम के बाद उनका जन्मवर्ष भी दिया गया है। शोधप्रबंध के नाम के बाद यदि वह प्रकाशित है तो क्रमशः प्रकाशक का नाम, प्रकाशनकाल, भूमिका आदि एवं मुख्य ग्रंथ की अलग अलग पृष्ठ संख्या, ग्रंथ की लंबाई तथा मूल्य दे दिया गया है। अंत में प्रबंध की स्वीकृति के वर्ष एवं स्वीकारकर्ता विश्वविद्यालय का उल्लेख है।

वर्णानुक्रम के बाद विश्वविद्यालयानुसार स्वीकृत प्रबंधविवरण के अंतर्गत वर्णानुक्रम से प्रत्येक विश्वविद्यालय के नाम के अनंतर १९६२ तक स्वीकृत शोधप्रबंधों की संख्या तथा वर्णानुसार शोधकर्ताओं एवं शोधग्रंथों की तालिका दी गई है। अंत में दो अनुक्रमणियाँ जोड़ी गई हैं जिनमें वर्णानुक्रम से क्रमशः प्रबंधकारों एवं प्रबंधग्रंथों की तालिकाएँ उनकी प्रविष्टियों की सूचक संख्या के साथ संकलित हैं।

श्री कृष्णाचार्य ने अपने इस श्रमसाध्य एवं विवेकपूर्ण ग्रंथ के रूप में हिंदी जगत को एक महत्वपूर्ण भेंट दी है। हम इस ग्रंथ के लिये उनका अभिनंदन करते हैं और आशा करते हैं कि वे भविष्य में भी विविध विषयों की ऐसी प्रामाणिक और उपयोगी ग्रंथपुटियाँ प्रस्तुत कर इस दिशा में हिंदी के अभाव को दूर करेंगे। पुस्तक के सुचारु प्रकाशन के लिये आर्यावर्त प्रकाशनगृह के स्वामी श्री रामनिवास ढंढारिया भी धन्यवाद के अधिकारी हैं।

--विष्णुकांत शास्त्री

द्विवेदी युग की हिंदी गद्यशैलियों का अध्ययन

लेखक—शंकरदयाल चौऋषि; प्रकाशक—भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली-६; पृष्ठ १४४+८७; १९६५; मूल्य १५)।

'द्विवेदी युग की हिंदी गद्य शैलियों का अध्ययन' शीर्षक ग्रंथ डा० शंकरदयाल चौऋषि का पी-एच० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत शोधप्रबंध है। श्रमशील लेखक ने तर्कपूर्वक द्विवेदी युग की पूर्व सीमा सन् १९०० ईस्वी और उत्तर सीमा सन् १९२० ईस्वी निर्धारित की है। इस समय की

व्याप्ति के भीतर निर्मित समस्त प्रकार के गद्यबंधों को उन्होंने अपने अनुशीलन का विषय बनाया है। परन्तु, उन्हीं गद्यबंधकारों की रचनाओं का परिग्रह उन्होंने अपने प्रबंध में किया है जो शैलीकार हैं अर्थात् जिनकी रचनाओं में विभिन्न प्रकार की शैलियाँ प्रस्फुटित हुई हैं। वस्तुतः 'प्रत्येक लेखक शैलीकार नहीं होता', इस सिद्धांत के आधार पर लेखक ने समीक्ष्य युग की रचनाओं का और रचनाकारों का परिग्रह अथवा त्याग किया है, जो कि विवेचन सौंदर्य के लिये अत्यावश्यक है।

प्रस्तुत प्रबंध निम्नलिखित बारह अध्यायों में विभक्त है —

१. शैली का सैद्धांतिक विवेचन, २. गद्य तथा शैलियाँ, ३. द्विवेदी-पूर्व गद्य की पृष्ठ भूमि, ४. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं शैलियाँ, ५. द्विवेदी युग के निबंध-साहित्य की गद्य शैलियाँ, ६. द्विवेदीयुगीन समीक्षा-साहित्य की गद्य शैलियाँ, ७. द्विवेदीयुगीन कथा साहित्य की गद्यशैलियाँ, ८. नाट्य साहित्य की गद्य शैलियाँ, ९. गद्यकाव्य की शैलियाँ, १०. पत्र पत्रिकाओं में गद्य शैलियाँ, ११. उपयोगी गद्य-साहित्य की शैलियाँ (क. शास्त्रीय विषय या उपयोगी साहित्य में शैलियाँ, ख. पत्र साहित्य में शैलियाँ, ग. अनुवादों में शैलियाँ) तथा १२. उपसंहार।

उपर्युक्त शीर्षकों एवं उपशीर्षकों से ही लेखक की वस्तु-प्रसारगामिनी दृष्टि की झलक मिलती है। बड़े ही श्रम के साथ उन्होंने सारी सामग्री को सक्रम सँजोने का सफल प्रयास किया है।

प्रथम दो अध्याय मूलतः सैद्धांतिक समीक्षा से संबद्ध हैं। पहले अध्याय में लेखक ने प्राच्य और पाश्चात्य काव्यशास्त्रों के सम्यक् अध्ययन के आधार पर शैली के समन्वित एवं संतुलित स्वरूप को प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा की है तथा उसके निर्वाह की भरपूर चेष्टा भी लक्षित होती है। संस्कृत काव्यशास्त्र के विशाल वाङ्मय में बिखरी हुई प्रकरणोपयोगी सूक्तियों का संचयन और संग्रथन करते हुए आँग्ल साहित्य में 'स्टाइल' की ऐतिहासिक विवेचना के साथ 'रीति स्टाइल तथा शैली' की विभिन्न व्याख्याओं एवं परिभाषाओं का भेदक संतुलन उपस्थापित किया है। लेखक के शब्दों में '……दोनों का नामांतर भेद है। दोनों के तत्व प्रायः एक दूसरे को अंतर्भूत कर जाते हैं। हाँ, शैली, रीति की अपेक्षा व्यक्तित्व पर अधिक बल देती है।'

दूसरे अध्याय में लेखक ने प्राच्य और पाश्चात्य विचारों की भूमिका में गद्य तथा पद्य की व्युत्पत्ति, आविर्भाव संबंधी आपेक्षिक पौर्वापर्य, गद्य की उन्नति के कारण आदि के विश्लेषण के साथ भोंडे ढंग से गद्य की शैलियों के—वर्णनात्मक

चित्रात्मक, विवेचनात्मक, भाषणात्मक, संभाषणात्मक, व्यंग्यात्मक, भावात्मक तथा काव्यात्मक—नौ वर्ग न्यायसंगत माने हैं।

इस प्रकार 'शैली' और 'गद्य' पर सैद्धांतिक विचार की दृष्टि से लेखक का प्रयत्न स्तुत्य है। किंतु उद्धरणों की बहुलता के कारण विवेचना में कहीं स्पष्टता बाधित हुई है कहीं जटिलता बढ़ गई है। शैलियों का वर्गीकरण यद्यपि सोदाहरण उपस्थित किया है तथापि शैलियों के भेदक लक्षण स्पष्ट नहीं हैं। वर्णनात्मक, चित्रात्मक एवं व्याख्यात्मक शैलियों में मात्रात्मक भेद प्रतीत होता है, गुणात्मक नहीं। यही स्थिति भाषण तथा संभाषण शैलियों में भी है। छापे की अशुद्धियों के अतिरिक्त प्रयोगगत विशृंखलता भी है। जैसे 'नाममात्र भेद' के अर्थ में 'नामांतरभेद' का लिखना।

तीसरे अध्याय में लेखक ने विस्तार के साथ तत्कालीन विभिन्न आंदोलनों एवं देशी विदेशी भाषाओं की हिंदी पर हुई प्रतिक्रियाओं का विवरण दिया है। इन प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप कुछ समस्याएँ भी उठीं जिनके समाधानार्थ द्विवेदी जी को बद्धपरिकर होना पड़ा। चतुर्थ अध्याय द्विवेदी जी पर पूर्णतः केंद्रित है क्योंकि शैलियाँ व्यक्तित्वसापेक्ष होती हैं। वास्तव में प्रबंध का इतना अंश भूमिका भाग है। शेष लेखक के शोध विषय से साक्षात् संबद्ध है जिसमें उनकी क्षमता का यथेष्ट परिपाक सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

—रामनरेश वर्मा

कोहबर की शर्त

(उपन्यास) लेखक—केशवप्रसाद मिश्र; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; पृष्ठ २०८; मूल्य ५)।

गंगा सरजू के दोआब में बसे उत्तरप्रदेश के बलिया जिला के दो गाँव बलिहार और चौबेपुर इस उपन्यास की कथाभूमि हैं। सामान्य प्रेमकहानी ग्रामीण वातावरण के सरस एवं स्वाभाविक चित्रण से रोचक और सरस हो उठी है। गुंजा और चंदन का चित्रण अल्हड़पन से भरा है जो ग्रामीण परिवेश से विकसित होता हुआ पाठकों को रसाभिभूत करता है। इस मार्मिक प्रेमगाथा की परिसमाप्ति करुण रस की धारा बहा देने में समर्थ है और भावुक हृदय को दहला देती है। भारतीय परिवार की गरिमा और गौरव का पूर्ण निर्वाह गुंजा और चंदन के चरित्रों में हुआ है। गुंजा घुल घुलकर मरती है और चंदन अकेला रहता है; कोहबर की शर्त फिर अधूरी होती हुई भी पूरी हो जाती है-पर एकदम अनकही शर्त ही रहती है। हिंदी के किसी उपन्यास में प्रेम का इतना उदात्त, प्रखर एवं

संयमित रूप नहीं आया है। उपन्यास में ग्रामसमाज का सशक्त और यथार्थ चित्रण हुआ है। ग्राम के सामाजिक कल्याण के लिये काका की तत्परता और उनका आत्मबलिदान, चंदन का भ्रातृस्नेह और पारिवारिक जीवन उभर कर सामने आया है।

वे दिन

(उपन्यास); लेखक--निर्मल वर्मा; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन प्रा० लिमिटेड; दिल्ली; पृष्ठ २१२; मूल्य ५)।

निर्मल वर्मा का यह प्रथम उपन्यास है। क्रिसमस के कुछ शांतिपूर्ण दिवसों की कहानी का इसमें सफल चित्रण है। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर अभिशप्त यूरोप की युद्धोत्तरकालीन पीढ़ी के जीवन की स्वाभाविक गतिमयता इसमें स्पष्टतर है। अवकाश के रिक्त क्षणों में पुराने प्राग के पुल और टावर, धूप और बर्फ सब जैसे अतीत युद्ध की अभिशप्त छाया से ग्रस्त हैं, और उससे संत्रस्त मानवसमाज खाने, पीने और अपनी ऐंद्रिक वासना को शांत करने में ही अपनी सब कुछ इयत्ता जान समझ पाता है। उसकी दृष्टि में क्षण महत्वपूर्ण हो चुका है—क्षण बीत जाता है और उसका समूह भी, किंतु उसकी स्मृति बनी रहती है। यही स्मृति उपन्यास का केंद्र बिंदु बनी हुई है। उपन्यास रोचक है।

एक पंखड़ी की तेज धार

लेखक—शमशेरसिंह नरूला, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६; पृष्ठ २२१; मूल्य—५)।

महात्मा गांधी की हत्या की परिस्थितियों के आधार पर लिखित प्रस्तुत उपन्यास में नवीनतम यूरोपीय उपन्यासों की टेकनिकल उपलब्धियों को अत्यंत सफलता से प्रयुक्त किया गया है। ऐतिहासिक गुरुता और अभिप्राय के साथ उपन्यास का लक्ष्य एक विशेष स्थिति को प्रस्तुत करना है। उपन्यास में कोई कथाविशेष नहीं है और न उपन्याससंबंधी रीति या परिपाटीबद्धता। फिर भी मात्र स्थितियों की सीमा में भारतीय समाज की असंगतियों, अंतर्द्वंद्वों के स्पष्टीकरण के साथ स्वतंत्र भारत के आरंभिक काल की गतिविधि और मानवीय व्यवहारों का स्पष्टतर अंकन प्राप्त होता चलता है। हिंदी में इस विषय पर और इस नवीन शैली में लिखा गया यह पहला उपन्यास है।

एक कटी हुई जिंदगी : एक कटा हुआ कागज

लेखक—लक्ष्मीकांत वर्मा; प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; पृष्ठ २०८; मूल्य ४।

स्वतंत्र लेखन व्यवसायी श्रीलक्ष्मीकांत वर्मा की यह कृति एक सर्वथा नए टेकनीक में लिखे गए उपन्यास के रूप में है। लेखक के शब्दों में आज जीवन की जिस गहनता को हम भोग रहे हैं उसकी अभिव्यक्ति के लिये शायद शब्दशक्ति पर्याप्त नहीं, क्योंकि कभी कभी ऐसा लगता है कि अधिकांश शब्द संदर्भहीन, अर्थहीन और संस्कारहीन हो गए हैं। संभवतः इसी लिये उपन्यास का नायक हम सबके व्यक्तित्व का अंश नहीं हो पाया है और उपन्यास इस थोपी गई अर्थहीनता, संदर्भहीनता और संस्कारहीनता की सीमारेखा के अंदर टूटी हुई जिंदगी, कटी हुई मान्यताएँ, अर्धभुक्त जीवन के व्यंग्य और पूर्ण भोग की अक्षमता को ही अपना केंद्रबिंदु बनाकर रह गया है।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

धीरे बहे दोन रे

लेखक—मिखाइल शोलोखोव; अनु०—गोपीकृष्ण 'गोपेश'; प्रकाशक—राजकमल, प्रकाशन (प्रा०) लि०, दिल्ली; पृ० ५६४; मूल्य ८)।

विश्वविख्यात रूसी उपन्यासकार श्री शोलोखोव का 'एंड क्वायट फ्लोज द दोन' रूस के कज्जाक जीवन के परंपरागत स्वरूप को जीवंत रूप में उपस्थित कर देनेवाला महान् उपन्यास है जो अपने सहज आकर्षण के कारण विश्वविश्रुत हो चुका है। दोन के इलाके के गाँवों में बसनेवाले कज्जाक की तुलना जंगल के उन वृक्षों से की जा सकती है जो धरती-आँगन में अपने में सारी कोमलता समेटे उगते हैं और समय पाकर इतने शक्तिशाली हो जाते हैं कि आँधी तूफानों से सीना तान कर मिलने में वे गर्व का अनुभव करते हैं। भारतीय किसानों के जीवन से उनका जीवन बहुत अंशों में मिलता जुलता है, जो खेतों से खलिहानों तक फैला रहता है। गाँव के बाद गाँव, एक ओर घास का मैदान, दूसरी ओर दूर तक चला गया जंगल, वन्य वृक्षों की ही भाँति किसानों के हृदय से उपजे हुए मर्मस्पर्शी लोकगीत, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के दिलों में उतरता हुआ एकरूप विश्वास और रूढ़िबद्ध मान्यताएँ तथा परिस्थिति विशेष से बाध्य होकर उन्हें ठुकराने को विवश हुए व्यक्ति के प्रति उपेक्षा और तिरस्कार की भावना, अपने परिवार और स्वजनों के प्रति ममत्व और अकृत्रिम प्रेम—ग्रामीण लोकजीवन का यही रूप तो हमें भारत के गाँवों में आज भी देखने को मिलता है। यही कारण है कि शोलोखोव की मँजी हुई लेखनी पाठक को इस दशा में पहुँचा देती है।

लेखक को सामान्य जनजीवन में घुलमिलकर रहने का अवसर मिला था इसी लिये उसका यथार्थ चित्र अंकित करने में उसे पूरी पूरी सफलता मिली है। वह मनोविज्ञान का वैसा ही पंडित है जैसा कि सफल कवि और कथाकार को होना चाहिए। नारी प्रकृति की गहरी जानकारी लेखक को है और उसे अभिव्यक्ति देने में वह पूर्णतया सिद्धहस्त है। औरतें समाज के ढाँचे में फिट न बैठनेवाले किसी पुरुष या स्त्री के विषय में कितनी बे सिर पैर की बातें गढ़ सकती हैं और उन्हें दूसरों को सुनाकर कितने आनंद का अनुभव करती हैं, यह हम नताल्या के बारे में बातें करती औरतों में स्पष्ट देखते हैं। नारी के विभिन्न रूप हम नताल्या, दारया, अक्सीनिया, लीजा, लुकेरया आदि पात्रियों में देख सकते हैं। नताल्या नारी का आदर्श रूप है।

इस प्रथम खंड का उत्तरार्ध सन् १६१४ के आसपास जर्मनी और आस्ट्रिया से रूस के साथ होनेवाले युद्ध का आख्यान है। यहाँ पहुँचकर पाठक अनुभव करने लगता है कि वह युद्ध की भयानक लपटों के बीच से गुजर रहा है। युद्ध का ऐसा संकुल एवं जीवंत वर्णन है कि बिना युद्धभूमि में गए किसी लेखक द्वारा यह किया नहीं जा सकता। इसमें कज्जाक योद्धा ही प्रमुखतः लेखक के वर्णनीय रहे हैं। युद्ध की विभीषिका दिखाकर लेखक ने मानवजाति से युद्धविरत रहने और शांतिमय जीवनयापन करने के संदेश को व्यंजित किया है। इसी खंड में आगे होनेवाली रूसी रक्तक्रांति का बीजवपन हम मिस्त्री स्ताकमैन और आगे चलकर सैनिक अंद्रेई गारांझा द्वारा होते देखते हैं। और यह हुआ है बड़े ही सहज ढंग से।

लेखक का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। भाषा सर्वत्र भाव की अनुवर्तिनी है। अलंकारों का व्यवहार स्थान-स्थान पर भावों को चमका देता है। कहीं कहीं भाषा की लाक्षणिकता उपन्यास में काव्य का आनंद दे जाती है। प्रकृति का सूक्ष्म और हृदयग्राही चित्रण लेखक के गहरे प्रकृतिप्रेम को व्यक्त करता है। कुल मिलाकर यह महान् कृति विश्व के किसी भी श्रेष्ठ उपन्यास से होड़ ले सकती है।

अनुवादक ने अपने कार्य में काफी सावधानी बरती है। अनुवाद की भाषा सहज, सुबोध और प्रांजल है। आशा है, शीघ्र ही इस महान् उपन्यास के शेष खंड भी अनूदित होकर हिंदीप्रेमियों की जिज्ञासा शांति के साथ ही हिंदी साहित्य की गौरववृद्धि करेंगे।

—प्रवासी

लोककथाओं के कुछ रूढ़ तंतु

लेखक—डा० कन्हैयालाल सहल; प्रकाशक—किताब महल प्राइवेट लिमिटेड, ५६ ए, जीरोरोड, इलाहाबाद; पृष्ठ संख्या ११७; मूल्य ५) ।

भारत लोककथाओं की भूमि है। यहीं से लोककथाएँ विश्व के अनेक भागों में फैलीं। यही कारण है कि देश विदेश की अनेक लोककथाओं में साम्य है। और जिन लोककथाओं में साम्य नहीं है वे देश, काल और परिस्थितिगत प्रभाव से परिवर्तित हो गई हैं। साथ ही मूल लोककथाओं के तंतुओं पर नवीन लोककथाएँ भी सर्जित हुई। इस प्रकार साम्य हो या पार्थक्य, मूल आत्मा समस्त लोककथाओं की एक ही है और यह मूल आत्मा ही है अभिप्राय (मोटिफ) अथवा का लोककथाओं के रूढ़ तंतु। विश्व की समस्त लोककथाओं के कुछ निश्चित रूढ़ तंतु हैं जिसके आधार पर लोककथाओं का निर्माण हुआ है अथवा जो लोककथाओं में लक्ष्यीभूत होकर संनिहित हो गए हैं।

लेखक ने इन्हीं अभिप्रायों अथवा रूढ़तंतुओं के रूप में लोक कथाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस उद्देश्य से लोककथाओं के रूढ़तंतुओं का लेखक ने वर्गीकरण किया है जैसे हास्य और रोदन, हँसना, होणी होय सो होय, भौजाई का ताना आदि और इसी वर्गीकरण के आधार पर एकाधिक लोककथाओं के उदाहरण देकर यह विश्लेषण किया है कि किन किन लोककथाओं में कौन कौन से मूल अभिप्राय रूढ़तंतु संनिहित हैं। लेखक ने राजस्थान क्षेत्र की लोक कथाओं को मुख्यरूप से लिया है और इस दिशा में विशेष अध्ययन की ओर संकेत किया है। यह कार्य विश्व की लोककथाओं के आधार पर भी हो सकता है जैसा कि स्टिथ टॉमसन ने 'मोटिफ इंडेक्स' में किया है।

अभिप्राय या रूढ़तंतु के निरूपण के साथ ही पुस्तक लोककथाओं के संग्रह के रूप में भी महत्वपूर्ण बन पड़ी है। लोकसाहित्य हमारा जीवित साहित्य है, जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों का साहित्य है, पर संग्रह की कुछ लोककथाएँ तो अत्यंत मार्मिक हैं जो हृदय पर पीड़ा की अमिट छाप छोड़े बिना नहीं रहतीं जैसे 'मूमल की कथा'।

किंचित् परिवर्तन के साथ देशविदेश में प्रचलित लोककथाएँ अपने में एक मनोरंजक तथ्य हैं, अध्ययन का विषय भी। रूढ़ तंतुओं के वर्गीकरण के सिलसिले में ऐसी लोककथाओं को एक स्थान पर संकलित किया गया है।

अंत में, अंग्रेजी के एक 'मोटिफ' शब्द के लिये अनेक शब्दों के स्थान पर किसी एक शब्द का शास्त्रीय मान्यता की दृष्टि से स्थिरीकरण होना चाहिए।

प्रकरण की भावुकता ने कहीं कहीं अवांतर चर्चा भी उपस्थित की है (पृ० १४६ आदि)।

हिंदी पुस्तकों के मुद्रण में प्रूफ की अशुद्धियों पर अब विशेष दृष्टि आवश्यक है। तथ्य के न बिगड़ने पर भी यह एक गंभीर खामी है।

उपन्यासकार प्रेमचंद

लेखक—श्यामसुन्दर घोष; प्रकाशक—भारतीय साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली—६; पृष्ठ संख्या २१०; मूल्य ४)।

'उपन्यासकार प्रेमचंद' में श्री श्यामसुंदर घोष के 'कुछ आलोचनात्मक निबंधों का संकलन है'। हिंदी कथासाहित्य को प्रेमचंद की महान देन है वस्तुगत भी और शिल्पगत भी। इसका अध्ययन बराबर होता आया है। प्रस्तुत पुस्तक में उपन्यासकार प्रेमचंद का अध्ययन इन शीर्षकों में किया गया है—जीवन और कृतित्व, देन और महत्व, विशाल भारतीय समाज के चितेरे, गौणपात्र और प्रसंग, भाषाशैली, नायक और नायिका संबंधी परिकल्पना, औपन्यासिक शिल्पविधि का विकास, आंचलिक तत्व, पड़नेवाले प्रभाव और उपन्यासों में हास्य व्यंग्य। विविध पक्षों से इस प्रकार अध्ययन करके प्रेमचंद के साहित्यिक कृतित्व का सांगोपांग रूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

परिशिष्ट में प्रेमचंद की पत्रकारकला पर विचार किया गया है तथा उन ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है जो प्रेमचंद के अध्ययन से संबंध रखते हैं। अंत में सन् १९०१ से १९३६ तक के प्रेमचंद के कृतित्वकाल में अन्य कृतिकारों की औपन्यासिक कृतियों की भी, तुलनात्मक अध्ययन के लिये, एक सूची दे दी गई है। प्रेमचंदविषयक आलोचनात्मक ग्रंथों को भी परिसमाप्ति में एकत्र कर दिया गया है।

संप्रति लेखक ने उपन्यासकार प्रेमचंद की मूल प्रवृत्तियों को पकड़ा है और समस्त कृतियों को दृष्टि में रखकर समग्ररूप से विचार किया है। प्रेमचंद के अध्ययन के लिये पुस्तक उपयोगी है।

—श्रीप्रसाद

लालबहादुर शास्त्री : महाप्रयाण

संपादक—लक्ष्मीनारायण गुप्त; प्रकाशक—सूर्यप्रकाशन, नई सड़क दिल्ली-६; पृष्ठ सं० १५०; मूल्य २)।

प्रस्तुत पुस्तक स्वर्गीय शास्त्री जी की स्मृति में प्रकाशित की गई है। इसमें संपादक ने शास्त्री जी की संक्षिप्त जीवनी, देशी और विदेशी नेताओं द्वारा शास्त्री जी को दी गई श्रद्धांजलियाँ, शव-यात्रा-वर्णन, शास्त्री जी के भाषण और उनके भाषणों के उद्धरण, ताशकंद का घोषणापत्र, और शास्त्री जी की मृत्यु की डाक्टरी रिपोर्ट संकलित की है।

रूपकों की भाषा

लेखक—रामगोपाल मिश्र; प्रकाशक—हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग; पृष्ठ सं० ५८, मूल्य ५)।

इस पुस्तक में भारत की पौराणिक कथाओं को रूपक मानकर उनकी बौद्धिक व्याख्या का प्रयास किया गया है—जैसे गंगावतरण की कथा को लंबी नहर बनवाने का प्रयास माना गया है। लेखक की सभी व्याख्याओं से सहमत होना तो संभव नहीं लेकिन पुस्तक से इस दिशा में सोचने की प्रेरणा अवश्य मिलती है।

नवरस रंग

संपादक—हरिमोहन मालवीय, प्रकाशक—हिंदी साहित्य संमेलन प्रयाग; पृ० सं० २०८; मूल्य ३)।

यह पुस्तक विदर्भ के पूर्व अज्ञात रीतिकालीन कवि लोकमणि मिश्र की कृति का संपादित रूप है। लोकमणि मिश्र आचार्य कविपरंपरा के सामान्य कवि हैं जिनकी कोई मौलिक उपलब्धि नहीं; फिर भी इसके प्रकाशन से हिंदी काव्य के ऐतिहासिक विकास की एक और विलुप्त कड़ी उजागर हो सकी है। संपादन के लिये एक ही प्रति उपलब्ध थी अतः पाठसंबंधी किसी विशेष समस्या का सामना संपादक को नहीं करना पड़ा, केवल हाशिए पर लिखे गए कुछेक पाठांतरों से चुनाव करना पड़ा था। पादटिप्पणियों में तुलना के लिये संस्कृत और हिंदी के भावसाम्यगत कुछ उद्धरण भी दिए गए हैं। छंदानुक्रमणिका और अप्रचलित शब्दों की सूची से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है।

प्रतिनिधि संकलन—कविता : मराठी

हिंदी रूपांतर और संकलनकर्ता—दिनकर सोनवलकर; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी; पृ० सं० १३२; मूल्य ७)।

इस पुस्तक में संकलनकर्ता ने सन् १९४० ई० से १९६४ ई० तक की आधुनिक मराठी कविता के अठारह प्रतिनिधि कवियों की चुनी हुई कविताओं का

संग्रह किया है। पुस्तक की भूमिका श्री प्रभाकर माचवे ने लिखी है जिसमें उन्होंने संकलित कवियों और काव्य अनुवाद के संबंध में अपने विचार अत्यंत संक्षेप में व्यक्त किए हैं। अनुवादप्रक्रिया की प्रामाणिकता पर भले ही मतभेद हो, ये कविताएँ मौलिक काव्यास्वादन का आनंद देती हैं। यह इस प्रयास की सबसे बड़ी सार्थकता है।

हिंदी में भारतीय साहित्य को प्रस्तुत करने का ज्ञानपीठ का प्रयास निस्संदेह राष्ट्रभाषा के विकास में योग दे रहा है और इसकी अनुक्रिया मूल्यवान होगी।

विवेक के रंग

संपादक—डा० देवीशंकर अवस्थी; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृ० सं० ४१८; प्रथम संस्करण १९६५ ई०; मूल्य ७)।

यह पुस्तक स्वर्गीय अवस्थी जी द्वारा संकलित पुस्तकसमीक्षाओं का संग्रह है। इसमें संपादक ने स्वतंत्रता के बाद के पंद्रह वर्षों में महत्वपूर्ण पुस्तकों पर लिखी गई महत्वपूर्ण समीक्षाओं का चयन किया है—एक पुस्तक पर एक समीक्षा। समीक्षाएँ चार उपविभागों में संकलित की गई हैं—१. काव्यपुस्तकों पर, २. उपन्यासों पर, ३. कहानीसंग्रहों पर और ४. नाटकों तथा जीवनी पर। आरंभ में आधार के रूप में विश्लेषणात्मक भूमिका भी है। पुस्तक समीक्षाओं में उभरती हुई साहित्य की नई पहचान को ढूँढ़ने के लिये यह संकलन महत्वपूर्ण है।

अंधा चाँद

लेखक—मुनि रूपचंद्र; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; पृ० सं० ७२; मूल्य ३)।

जैन मुनि की दार्शनिक अनुभूतियों की पीठिका पर रचित अट्ठावन कविताओं का संग्रह। तुक, ताल और लय तथा शिल्पकला की 'कृत्रिमताओं' से मुक्त।

विस्मृति के पंख

लेखक—निरंजननाथ आचार्य; प्रकाशक—भारतीय साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली; पृष्ठ संख्या १५२; मूल्य ३)।

प्रस्तुत पुस्तक में 'जीवन से परे', 'रहस्य' और 'प्रेम', इन तीन खंडों में विभाजित लेखक के गद्यगीतों का संकलन है।

बाल रामायण

लेखक—टी॰ एस॰ राघवन; प्रकाशक–हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग; पृ॰ सं॰ ११२; मूल्य १)५०।

प्रस्तुत पुस्तक में रामायण की कथा सरल रूप में बच्चों के लिये प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है; किंतु छपाई बच्चों के लिये उपयुक्त नहीं। कागज पतला होने के कारण एक ओर के अक्षर दूसरी ओर से झलकने लगे हैं। पंक्तियों और शब्दों के मध्य की दूरियाँ बढ़ानी चाहिए थी, और चारों ओर हाशिया अधिक देना था। चित्र भी पर्याप्त और अच्छे नहीं हैं।

दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ

लेखक—डा॰ जगदीशचंद्र जैन; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; पृ॰ सं॰ १८६; मूल्य ३)।

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक ने प्राचीन जैन वाङ्मय से चुनकर ६५ कहानियाँ अपनी भाषा में उपस्थित की हैं। ये कहानियाँ प्रकारांतर से बौद्ध और ब्राह्मण वाङ्मय तथा लोकजीवन में भी प्रचलित हैं। लेखक ने इन कहानियों को लौकिक, ऐतिहासिक और धार्मिक, इन तीन वर्गों में बाँटा है। लेखक की भाषा शैली स्पष्ट और मितव्ययितापूर्ण है।

प्राथमिकी : समकालीन हिंदी साहित्य का एक तटस्थ अध्ययन

लेखक—बदरीनारायण सिनहा, श्री गणपत प्रकाशन, पटना—१; पृ॰ सं॰ ४३+७१+३१; मूल्य १०)।

इस पुस्तक में लेखक की साहित्यिक समीक्षाओं का संकलन है। पुस्तक के कुछ फार्म उलटे पुलटे लग गए हैं।

प्रेत

मूल—हेनरिक इब्सन; अनुवादक—नेमिचंद्र जैन; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; पृ॰ सं॰ ११२; प्रथम संस्करण १९६५, मूल्य २)२५।

इब्सन विश्व के श्रेष्ठतम नाटककारों में से एक हैं। यह उनकी गोस्ट्स नामक कृति का अविकल अनुवाद है। इनकी कृतियों का अध्ययन और अनुवाद हिंदी में पहले भी हो चुका है और उनसे हिंदी नाट्यरचना महत्वपूर्ण रूप में प्रभावित हुई है। खेद की बात है कि हिंदी में इब्सन को अभी तक उनकी सामाजिक सजगता और यथार्थवादी दृष्टिकोण के लिये ही याद किया जाता है।

बहुत कम लोग जानते हैं कि इब्सन नाट्यशिल्प, रंगतंत्र, अभिनेयता आदि में भी बेजोड़ हैं। आशा है इस नाटक के अनुवाद के साथ उनके इस पहलू के अध्ययन विश्लेषण की ओर अध्येताओं का ध्यान आकर्षित होगा और उसका सुफल हिंदी नाटकों के श्रेष्ठतर शिल्प के रूप में व्यक्त होगा।

रात की बाँहों में

प्रकाशक—राधाकृष्ण प्रकाशन, ४-१४ रूपनगर, दिल्ली-७; पृ०सं० १०५; मूल्य ३) ५० ।

प्रस्तुत पुस्तक में सर्वश्री ख्वाजा अहमद अब्बास, मोहन राकेश, कृशनचंदर प्रयाग शुक्ल, सलमा सिद्दीकी, अमृतलाल नागर, शरद जोशी, वीरेंद्रकुमार जैन, कमलेश्वर, और राजेंद्र यादव की रचनाएँ संकलित हैं। संपादक या संकलनकर्ता के रूप में किसी का नाम नहीं। इन लोगों ने क्रमशः बंबई, दिल्ली, श्रीनगर, हैदराबाद, नैनीताल, लखनऊ, भोपाल, अमृतसर, इलाहाबाद, और कलकत्ता के नैशजीवन को चित्रित किया है। संक्षिप्त से प्रकाशकीय वक्तव्य के अनुसार मूल संकल्प यह था कि देश के प्रमुख शहरों की रातों की जिंदगी पर देश के प्रमुख लेखक ऐसा कुछ लिखें कि जो न कहानी ही कहला सके और न रेखाचित्र ही। जो कुछ लिखा जाय उसमें कहानी की सी रोचकता रहे और रेखाचित्र सी चुस्ती और यथार्थता। सभी लेखकों ने अपने अपने ढंग से ऐसी ही कोशिश की है।

विधागत नाम देने की अनिवार्यता अनुभव होने पर इन्हें हम शब्दचित्र के ही रूप मान सकते हैं। रात की बाँहों में संकलित रचनाओं द्वारा संबद्ध नगरों के विशिष्ट व्यक्तित्व उजागर हो पाते हैं और रात के अनेक चित्र न केवल वातावरण के बिंबों को रूपायित करते हैं बल्कि वे मानवजीवन के उस पहलू को निरावृत पकड़ पाते हैं जो रात्रि के अंधकार का आश्रय पाकर अपने आवरण उतार देता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि लेखकों ने अपनी दृष्टि असामाजिक तत्वों तक ही सीमित नहीं रखी है; उन्होंने रात्रि की निश्चलता में साकार होनेवाली सामान्य मानव की विवशताओं को भी उनकी अंतरंगता में चित्रित किया है।

एक ही विषयवस्तु पर एक ही विधा में विभिन्न लेखकों की रचनाओं का संकलन होने के कारण रचनाप्रक्रिया और शिल्पविधान के गहन एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिये भी यह पुस्तक महत्वपूर्ण है। साहित्य में डाक्यूमेंटरी शैली और मोंताज तकनीक के उपयोग के कुछ अच्छे उदाहरण इसमें आए हैं।

पुस्तक की साज सज्जा सुरुचिपूर्ण और सुंदर है। श्री हरिदास त्यागी द्वारा चित्रित आवरण पृष्ठ और अंदर के रेखाचित्र अभिव्यंजनापूर्ण और कलानुभूति जगाने में समर्थ हैं।

—कुँवरजी अग्रवाल

नागरी पत्रिका

उद्देश्य

हिंदी साहित्य और देवनागरी के प्रचार प्रसार से संबद्ध समाचार और सूचनाओं का प्रकाशन।

देवनागरी लिपि में प्रकाशित साहित्य का परिचय, समीक्षा एवं प्रचार प्रसार।

अव्यावसायिक संस्थानों द्वारा देवनागरी लिपि में प्रकाशित साहित्य का प्रचार प्रसार।

साहित्यसंबंधी ज्ञानवर्द्धक सूचनाएँ एवं निबंधों का प्रकाशन।

संपादकमंडल

कृष्णदेवप्रसाद गौड़
डा० सहदेवप्रसाद पाठक
शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
करुणापति त्रिपाठी
मोहकमचंद मेहरा
सुधाकर पांडेय
(संयोजक तथा संपादक)
श्रीनाथ सिंह
(सह संपादक)

वार्षिक २) ❀ एक प्रति २५ पैसे

सदस्यों को पौने मूल्य में

पत्रिका का आकार—डबल क्राउन अठपेजी १०×७.५

आगामी गुरुपूर्णिमा से प्रकाश्य

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

सभा के कुछ कोश--

लघुतर हिंदी शब्दसागर—संपा० पं० करुणापति त्रिपाठी। मूल्य ६.००

लघु हिंदी शब्दसागर—संपा० पं० करुणापति त्रिपाठी। मूल्य ११.००

संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर—संपा० श्री रामचंद्र वर्मा। मूल्य १८.००

हिंदी शब्दसागर—संपूर्ण कोश १० खंडों में पूर्ण करने की योजना है। इसका प्रथम खंड प्रकाशित हो गया है। दूसरा खंड प्रेस में है। अन्य खंडों का संपादनकार्य समाप्त हो चुका है। मूल्य प्रति भाग १८.००

हिंदी विश्वकोश—अंग्रेजी इनसाइक्लोपीडिया के ढंग का यह हिंदी विश्वकोश १० भागों ... शित हो चुके हैं ... शित होने वाले ... गया का १०)

१. धातु और क्रिय...
२. लालचंद्रिका...
३. मानस अनु...
४. कागद औ...
५. लघ...
६. हिंदी वि...
७. दादू ग्रंथाव...
८. मुगल दरब...